

DAMAGE BOOK

मानव जीवन



वक—

रामनारायण यादवेन्दु,

बी. ए. एल-एल. बी

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186533

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H170/412M Accession No. G. H. 180

Author सादवेन्दु, रामनाथयुगल,

Title - ~~मानव~~ जीवन,

This book should be returned on or before the date
last marked below.

पुस्तक मिलने का पता—

भार्गव बुक हाउस

राजामंडी, आगरा

मुद्रक—

बालकृष्ण बंसल

बन्सल प्रेस. आगरा

भूमिका

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और उसकी शासन-नीति का भारत की शिक्षा पर भी प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी शासन की धार्मिक मामलों में तथाकथित तटस्थता की नीति के परिणामस्वरूप हमारी शिक्षा-संस्थाओं से प्राचीन भारतीय दर्शन तथा धर्म का बहिष्कार कर दिया गया। इसी नीति के फल स्वरूप सदाचार-शास्त्र की शिक्षा का भी महत्व नहीं रहा। इस प्रकार हमारे विद्यालयों तथा विश्व-विद्यालयों में ऐसी शिक्षा दी जाती रही है जिसका व्यावहारिक जीवन में कोई महत्व नहीं। उसका न हमारे आध्यात्मिक जीवन से संबंध है और न नैतिक जीवन से ही।

स्वाधीन भारत की सरकार ने हमारी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के इस दोष को अनुभव किया और उसने विश्व-विख्यात दार्शनिक विद्वान डा० राधाकृष्णन् के नेतृत्व में भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन को नियुक्ति की, जिसकी रिपोर्ट गत अगस्त १९४६ में प्रकाशित हो चुकी है। कमीशन की रिपोर्ट ने विश्वविद्यालय की शिक्षा में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन व सुधार करने के लिये सुझाव पेश किये हैं। इनके विषय में यहाँ हम विचार नहीं करेंगे किन्तु यहाँ हम एक महत्व-पूर्ण सुझाव की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

विश्वविद्यालय कमीशन का यह मत है कि यद्यपि विश्वविद्यालय की शिक्षा से धार्मिक अध्ययन का परित्याग नहीं किया गया है; धार्मिक तथा दार्शनिक अध्ययन के लिए प्रोत्साहन दिया गया है, तथापि धार्मिक मतवादों (Dogmas) के प्रचार का निषेध किया गया है। इस प्रकार कमीशन का यह अभिमत है कि विश्वविद्यालयों में धार्मिक तथा दार्शनिक स्वाध्याय की व्यवस्था होनी चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि कमीशन का यह विचार सर्वथा उचित है। भारत में प्राथमिक पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षा-विधान में सदाचार की शिक्षा (Moral Teaching) को मुख्य स्थान मिलना चाहिए। आज हमारे देश की जनता का नैतिक स्तर निम्नतम हो गया है समाज में नैतिक मूल्यों तथा नैतिक आदर्शों का स्थान निम्नतम हो गया है। इसीलिए आज हमारे समाज में श्रेष्ठ मानवीय आदर्शों एवं सद्गुणों का आदर नहीं है। समाज में आज इसी नैतिक हास के कारण सरस्वती देवी के उपासकों की संख्या नित न्यून होती जा रही है और लक्ष्मी के उपासकों की संख्या बढ़ती जा रही है।

अतः समाज में पुनः नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा एवं सदाचार-पूर्ण जीवन की साधना के लिए यह परम आवश्यक है कि हमारी प्राथमिक पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालयों तक में छात्र-छात्राओं के लिए सदाचार की ओर प्रेरित करने वाले साहित्य का अध्ययन अनिवार्य हो।

इसी भावना से प्रेरित होकर हमने प्रस्तुत पुस्तक 'मानव-जीवन' की रचना की है जिससे हाई-स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र एवं छात्राएँ व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन तथा राष्ट्रीय जीवन में अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए उपयुक्त नैतिक बल प्राप्त कर सकें। हमने प्रस्तुत पुस्तक में मानव-जीवन को सफल बनाने के लिए समस्त साधनों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हुए मानवता के मार्ग की ओर निर्देश किया है। हमारा यह विश्वास है कि इस पुस्तक के पढ़ने से नवयुवकों को आत्मिक बल तथा नैतिक शक्ति प्राप्त करने में सहायता मिलेगी और वे जीवन-संप्राम में सफलता प्राप्त करते हुए मानवता की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

यदि इस पुस्तक के अध्ययन से नवयुवक विद्यार्थियों को अपने चरित्र-निर्माण में तनिक भी प्रेरणा व स्फूर्ति मिली, तो लेखक अपने इस प्रयास को सफल समझेगा।

(ग)

आशा है, विद्यार्थी-समाज इससे लाभ उठायेगा। यह पुस्तक हाई स्कूल के छात्रों व छात्राओं के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

इसका मुद्रण शीघ्रता में हुआ है, इसलिए त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। किन्तु अगले संस्करण में अशुद्धियाँ दूर करने का पूरा प्रयत्न किया जावेगा।

अन्त में हम श्री हरप्रसादजी भार्गव को धन्यवाद देते हैं, कि उन्होंने इसे प्रकाशित कर सत्साहित्य की श्रीवृद्धि में योग दिया है।

राजमंडी, आगरा }
(संयुक्त प्रान्त)

रामनारायण यादवेन्दु

विषय-सूची

अध्याय

पृष्ठ संख्या

(१) व्यक्तिगत जीवन

१—व्यक्ति	...	१—७
२—चरित्र-निर्माण	...	८—१४
३—आत्म-संयम	...	१५—२०
४—स्वावलम्बन	...	२१—२३
५—सत्यता	...	२४—२८
६—साहस और धैर्य	...	२९—३६
७—प्रसन्नता और पवित्रता	...	३७—४३
८—शिष्टाचार व विनयशीलता	...	४४—४८
९—ज्ञान	...	४९—५५

(२) पारिवारिक जीवन

१०—परिवार	...	५६—५९
११—सहानुभूति	...	६०—६३
१२—परोपकार	...	६४—७०
१३—मित्रता	...	७१—७६
१४—सहयोग	...	८०—८७
१५—शिक्षा और संस्कृति	...	८८—९३

(३) सामाजिक जीवन

१६—समाज	...	९४—९८
१७—सम्पत्ति	...	९९—१०३

अब सामन्त का स्थान उद्योगपति ने ले लिया ! उद्योग-पति ने देखा कि फ्रेञ्च क्रान्ति के गर्भ से समता और स्वतन्त्रता की जो भावना प्रादुर्भूत हुई, वह उसके लिए वरदान के रूप में सिद्ध हुई ।

अब व्यक्तिवाद के नाम पर उद्योगपति ने अपना कार-बार बड़ी स्वतन्त्रता से चलाया और इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समता को एक गहरी ठेस लगी । उसने देखा कि वह अभी बन्धन-मुक्त नहीं हुआ । इस प्रकार 'समता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व' (Equality, Liberty & Fraternity) का नारा अब उसके लिए कोई आकर्षण की चीज नहीं रही ।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि विश्व के सभी धर्मों, दर्शनों, और राज्य-नीतिकारों ने सदैव व्यक्तियों की प्रगति, आनन्द एवं कल्याण के लिए अनेक प्रकार के मत और सिद्धान्त स्थिर किए, तथापि आज भी उनका कल्याण, उनका सुख और उनकी शान्ति बड़े संकट में है ।

वास्तव में व्यक्ति और समाज अथवा व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों के प्रश्न पर सदैव से विवाद चला आता है । व्यक्ति समाज के लिए है या समाज व्यक्तियों के लिए है इस विचार के आधार पर अनेक प्रकार के सिद्धान्तों की रचना की गई और इस पर भी अभी तक इन दोनों के सम्बन्धों में सामंजस्य की समस्या का हल नहीं हो सका ।

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तियों से समाज बना है और समाज के कारण ही मानव ने अपना विकास और प्रगति की है । यदि व्यक्ति के जन्म के बाद तुरन्त ही, उसे एकान्त में निर्जीव वनप्रदेश में रखा जाय, जहाँ वह किसी मानव के दर्शन भी न कर सके और वहाँ उसके भोजन-वसन तथा अन्य भौतिक

आवश्यकताओं की पूर्ति के सभी साधन उपलब्ध हों, तो क्या आप यह आशा कर सकेंगे कि वहाँ वह मानवीय गुण, संस्कार विचार एवं आदर्शों का विकास कर सकेगा। यह वास्तव में सत्य है कि मानव-विकास एवं प्रगति केवल समाज में रहकर ही सम्भव है। अतः व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध सावयव है। किन्तु कुछ निद्वानों ने समाज का व्यक्तियों से प्रथक् अस्तित्व माना है, उसकी व्यक्ति-समूहों से भिन्न आकांक्षा स्वीकार की है। अपनी इस कल्पना के द्वारा उन्होंने समाज को एक प्रथक् एवं भिन्न व्यक्तित्व प्रदान करते का प्रयत्न किया है। इस कल्पना में विश्वास करने वाले व्यक्ति समाज को व्यक्ति-समूह से भिन्न मानते हैं और उनका उद्देश्य है ऐसे समाज का कल्याण ऐसे समाज की प्रगति और विकास। इस प्रकार उनकी दृष्टि में समाज ही सब कुछ है और व्यक्ति कुछ भी नहीं। इस प्रकार यह कल्पना व्यक्तिवादी विचारधारा के ठीक प्रतिकूल है। इटली तथा जर्मनी में फ सिसट विचारधारा में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं था। वहाँ समाज या राज्य ही सर्वोपरि था।

संसार के सभी विचारक और राजनेता यह घोषणा करते हैं कि “हम व्यक्तियों का कल्याण चाहते हैं; प्रजातन्त्र का उद्देश्य जनता का कल्याण करना है।” किन्तु वास्तव में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और कल्याण की ओर एक शतांश भी ध्यान नहीं दिया जाता।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि व्यक्तियों का महत्त्व कम होता जा रहा है; प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र, लोक-राज, प्रजा-राज्य और रामराज्य के सुन्दर स्वप्नों के राज-प्रासाद नित नये-नये रूपों में दिखलाये जाते हैं; किन्तु क्या कभी जनता इनमें प्रवेशपा

सकेगी, इसके लिए कोई भी विचार नहीं करता। आज के समाज में व्यक्ति का स्थान समूह ने ले लिया है—अतः राज्य कुछ विशिष्ट व्यक्ति-समूह की सम्पत्ति बन गया है; उस पर उसी का नियन्त्रण है, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप उसके आधीन हो।

आज का व्यक्ति न स्वतन्त्र है और न उसे समाज में समता ही प्राप्त है। अमेरिका के नेता अब्राहम लिंकन ने स्वतंत्रता के सम्बन्ध में कहा है—

“दुनिया में स्वतन्त्रता शब्द की कभी कोई उचित परिभाषा नहीं हुई और अमेरिका की जनता को अब इसकी बड़ी आवश्यकता है। हम सब स्वतन्त्रता की घोषणा करते हैं, किन्तु हम जब इसका प्रयोग करते हैं, तब एक ही अर्थ में नहीं करते। कुछ लोगों के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ यह हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ तथा अपने श्रम जनित फल के साथ मनचाहा वरताव करे; किन्तु दूसरे लोगों के लिए इसका यह अर्थ हो सकता है कि वे दूसरे व्यक्तियों व उनके श्रम-जन्य फल के साथ मनचाहा व्यवहार करें। इस प्रकार यहां दो सर्वथा भिन्न व परस्पर विरोधी चीजें हैं और इन दोनों को ही स्वतंत्रता कहा जाता है। और बड़ी विलक्षण बात यह है कि एक पक्ष जिसे स्वतंत्रता कहता है; दूसरा उसे अन्याय कहता है।

“गड़रिया भेड़ के निकट से भेड़िए को दूर भगा देता है; उसके लिए भेड़ तो उसे धन्यवाद देती है; क्योंकि उसने उसकी मुक्ति की है; दूसरी ओर भेड़िया उस गड़रिये की निंदा करता है; क्योंकि उसने उसकी स्वतंत्रता नष्ट कर दी है। स्पष्ट है कि स्वतंत्रता की परिभाषा के संबंध में भेड़ व भेड़िये में मतैक्य नहीं है; और आज यही मतभेद हम मानवों में प्रचलित है, उत्तरी अमेरिका के लोगों में भी जहाँ स्वतंत्रता के प्रेमी हैं।”

ये शब्द अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कहे थे। उस समय व्यक्ति की स्वतंत्रता की समस्या इतनी विकट नहीं थी जितनी कि आज है। आज भी स्वतंत्रता की परिभाषा के संबंध में घोर मतभेद सर्वत्र देख पड़ता है और ये मतभेद ही हमारी आज की सभी समस्याओं के मूल में काम कर रहा है।

आज के समय में मानव की—व्यक्ति की दुर्दशा एक अपूर्व घटना है; व्यक्ति की इस अधोगति, इस पतन और पराभव का एक मात्र कारण स्वयं व्यक्ति और उसकी स्वार्थपरता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि व्यक्ति स्वभाव से स्वार्थी है; वह प्रत्येक कार्य स्वार्थ-भावना से करता है; किन्तु उसके परमार्थ एवं परोपकार में भी स्वार्थ की भावना होती है। वृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रयी संवाद द्वारा व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रकृति पर बड़े सुंदर रूप में प्रकाश डाला गया है; याज्ञवल्क्य ने कहा।

“हे मैत्रेयी! यह निश्चय है कि स्त्री को पति, पति के प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होता, वह उसके प्रयोजन के लिए प्रिय होता है। पति स्त्री को स्त्री के लिये प्रेम नहीं करता, वरन् अपने प्रयोजन के लिए प्रेम करता है; पुत्र के स्वार्थ के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते अपने स्वार्थ के लिए प्रिय होते हैं; धन के प्रयोजन के लिए धन प्रिय नहीं होता है; अपने ही प्रयोजन के लिए धन प्रिय होता है।... लोगों के प्रयोजन के लिए लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही स्वार्थ के लिए लोक प्रिय होते हैं; देवताओं के स्वार्थ के लिए देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही स्वार्थ के लिए देवता प्रिय होते हैं; प्राणियों के स्वार्थ के लिए प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही

प्रयोजन के लिए प्राणी प्रिय होते हैं; तथा सबके स्वार्थ के लिए सब प्रिय नहीं होते; अपने ही स्वार्थ के लिए लिए सब प्रिय होते हैं ।”*

मानव की प्रकृति स्वार्थमयी है; वह प्रत्येक कार्य यहां तक विशुद्ध परमार्थ के कार्य भी अपनी सन्तुष्टि के लिए करता है । समाज मानव की इस स्वार्थमयी प्रकृति पर कुछ मर्यादाएँ लगा देता है, जिससे सभी व्यक्ति अपने कल्याण की सिद्धि कर सकें अथवा सब मिलकर सामान्य-कल्याण (Common well) की सिद्धि कर सकें । मनुष्य की सन्तुष्टि उनके दृष्टिकोण एवं भाव भावना पर निर्भर होती है; कोई व्यक्ति भोग-विलास में सुखानुभव करता है, दूसरा अपने परिवार को सुखी बनाने में सन्तुष्ट होता है; कोई अपने नगर-वासियों के सुधार से सन्तुष्ट होता है तो कोई अपने देश वासियों के कल्याण से, कोई ज्ञान-विज्ञान कला-सहित्य एवं संस्कृति की प्रगति से सन्तुष्ट अनुभव करता है । इस प्रकार इस संबंध में जो अन्तर देख पड़ता है, उसका कारण यह है आत्मा का भाव क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है ।

आज के स्वतंत्रता के युग में मानव या व्यक्ति की अधोगति का प्रमुख कारण है उसका चारित्रिक पतन । व्यक्तियों से परिवार बनता है, परिवारों से ग्राम या बस्ती और अनेक नगर तथा नगरों से प्रदेश या देश । इस प्रकार व्यक्ति देश की इकाई है । जिस परिवार, नगर, गांव और देश के व्यक्तियों का चरित्र जितना ही विमल होगा, वे जितने ही सदाचारी, विद्वान परोपकारी, तथा आत्मत्याग करने वाले होंगे, उतने परिवार श्रेष्ठ और देश मानवता के पुजारी होंगे ।

*कल्याण उपनिषद्-अङ्क (फरवरी १९४६) पृष्ठ ४७२.

आज हमारे परिवारों में, हमारे नगरों में, हमारे लाखों ग्रामों में और समूचे देश में जो दरिद्रता का ताण्डव हो रहा है, जिस घोर नैतिक पतन का गंदा वातावरण देख पड़ता है और जिस अशान्ति और असन्तोष का कुहराम मचा हुआ है, कहीं भी सुख-शान्ति और के लक्षण नहीं देख पड़ते, इसका कारण है व्यक्तियों का पतन ! अतः यादे आप अपने परिवार, ग्राम, नगर, प्रान्त और देश का नव-निर्माण चाहते हैं; उनमें नूतन सुखदायी व्यवस्था की स्थापना चाहते हैं, जिससे देश में और संसार में शान्ति—सच्ची शान्ति की प्रतिष्ठा हो और मानव का गौरव बढ़े, तो अपने व्यक्तिगत चरित्र को उच्च बनाने का प्रयत्न करें, क्यों कि चरित्र-निर्माण ही सामाजिक नव-निर्माण का प्रथम सोपान है ।

अध्याय २

चरित्र-निर्माण

मानव-जीवन में श्रेष्ठ चरित्र एवं शील-सौष्ठव का अधिक महत्व है। वास्तव में मानव-जीवन में कल्याण की सिद्धि के लिए सद्चरित्र अत्यन्त आवश्यक है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनके जीवन-वृत्त का अध्ययन किया जाय, तो हमें यह स्पष्ट देख पड़ेगा कि उन्होंने अपने जीवन में जो सफलता प्राप्त की है, वह उनके सद्चरित्र एवं सदाचार के कारण ही सम्भव हुई। हमारे देश में स्वामी रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, योगिराज अरविन्द और महात्मा गाँधी ने जो महानता प्राप्त की, उसका कारण भी उनका आदर्श चरित्र ही है। राष्ट्रपिता गाँधी जी ने तो आत्म-संयम और सदाचार पर इतना अधिक जोर दिया कि वह केवल व्यक्तिगत जीवन की साधना की ही वस्तु नहीं है, वरन् सामाजिक, व्यवसायिक और राजनीतिक जीवन में भी उसका प्रयोग करना चाहिए।

जिस व्यक्ति में चरित्र तथा सदाचार का अभाव हो, वह चाहे कितना ही विद्वान्, धनी और कुलीन क्यों न हो, उसका समाज और देश पर प्रभाव नहीं पड़ता। जनता में उसके प्रति सच्ची श्रद्धा का प्रादुर्भाव नहीं होता।

सद्चरित्र तथा शील मानवता का अपूर्व गुण है। इसकी प्राप्ति के लिए बाल्य-काल से ही प्रयत्न करने की आवश्यकता है। बाल्य-काल में ३ वर्ष की अवस्था में लेकर १५-१६ वर्ष की

अवस्था तक बालक-बालिका जैसे वातावरण में रहते हैं, वैसा ही उनका चरित्र बन जाता है और जो संस्कार इस वयस में उनकी आत्मा पर पड़ जाते हैं, वे आजन्म बने रहते हैं। अतः शिशु-काल से ही बालकों के चरित्र-निर्माण की ओर माता-पिता तथा अभिभावक को पूरा ध्यान देना चाहिए। चरित्र-निर्माण के लिए सद्गुणों के अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है; मानव के चरित्र का विकास सदाचार सत्यपूर्ण आचार से होता है; जब वह अपने जीवन में सत्य-भाषण, सत्य प्रियता, आत्म संयम, मन, वचन व कर्म से पवित्रता, परस्पर सहानुभूति एवं प्रेम-पूर्ण व्यवहार, दया तथा परोपकार के कार्यों का संपादन करता है, दूसरों के साथ शिष्ट आचरण करता है, तब इन सब सद्गुणों के अभ्यास से उसमें जिस श्रेष्ठता का उदय होता है, उसी का नाम चरित्र है। इस प्रकार चरित्र सदाचार की आत्मा है; जिस प्रकार आत्मा का समस्त शरीर और उसकी क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है; उसी प्रकार चरित्र का मनुष्य के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। सदाचार अभ्यास की चीज है और सद्-चरित्र उसका संस्कार मात्र है।

किसी व्यक्ति के चरित्र का ज्ञान हमें उसके भाषण, वार्तालाप, विचार, रीति-नीति, कार्य-कलाप और दृष्ट-कोण से हो जाता है। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने चरित्र को कितना ही गुप्त रखने का प्रयत्न करे, उसकी क्रियाशीलता स्वयं ही उसका विज्ञापन कर देगी।

सद्चरित्र का केवल उस व्यक्ति के जीवन पर ही प्रभाव नहीं पड़ता, वरन् उससे अपने पड़ोस, अपने नगर, ग्राम तथा देश की जनता पर भी प्रभाव पड़ता है।

छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम जवाला की कथा इस प्रकार है 'जवाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता जवाला को

सम्बोधित करके निवेदन किया 'पूज्ये ! मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में निवास करना चाहता हूँ। बता, मैं किस गोत्र-वाला हूँ ?' उसने कहा—“हे पुत्र ! तू जिस गोत्रवाला है, उसे मैं नहीं जानती। युवावस्था में, जब कि मैं बहुत कार्य करनेवाली परिचारिणी थी, मैंने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र-वाला है ? मैं तो जवाला नाम वाली हूँ और तेरा नाम सत्यकाम है, अतः तू अपने को 'सत्यकाम जवाला' बतला देना। सत्यकाम ने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा—“मैं पूज्य श्रीमान् के यहाँ ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास करूँगा। इसी से आपके निकट आया हूँ।” गौतम ने उससे कहा—“सौम्य ! तू किस गोत्रवाला है ?” उसने कहा—“भगवन् ! मैं किस गोत्रवाला हूँ उसे नहीं जानता। मैंने माता से पूछा था; उसने मुझे यह उत्तर दिया कि “युवावस्था में बहुत काम-धन्धा करनेवाली परिचारिणी थी, तब मैंने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है। मैं जवाला नाम वाली हूँ और तू सत्यकाम नाम वाला है। अतः आचार्य ! मैं सत्यकाम जवाला हूँ।” गौतम ने उससे कहा—“ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः सौम्य ! तू समिधा ले आ। मैं तेरा उपनयन कर दूँगा; क्योंकि तूने सत्य का त्याग नहीं किया है।”

सत्यकाम ने गुरुकुल में रह कर अपने आचार्य से ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार उसने अपनी माता और कुल की गौरव वृद्धि की। सत्यकाम वास्तव में अपनी माता का आदर्श पुत्र था। उसका चरित्र विमल और सौम्य था। उसका प्रभाव गौतम जैसे आचार्य पर पड़ा। जिस प्रकार चरित्रवान् व्यक्ति की संसार में प्रशंसा होती है, उसी प्रकार चरित्र-हीन व्यक्ति की संसार निन्दा करता है। बौद्ध जातक में एक कथा इस प्रकार है।

“प्राचीन काल में काशी में एक राजा राज करता था; उसके प्रति किसी व्यक्ति की श्रद्धा नहीं थी और न राजा ही किसी से स्नेह रखता था। वह न ब्राह्मण से, न वैश्य से प्रेम करता था और न राजमाता तथा राजकुमारी पर ही उसका स्नेह था। उसने प्रजा पर भारी कर लगा दिये थे और जो कर अदा नहीं करते थे उनके साथ बड़ी क्रूरता के साथ व्यवहार किया जाता था। वह अपनी प्रजा को गर्ने की भाँति पिरवा दिया करता था। जब राजा की मृत्यु हो गई, तो इससे प्रजा को परम दर्प हुआ, जब उसका दाह-संतकार समाप्त हो गया, तो उन्होंने जय-जयकार किये और आनन्द से सामारोह मनाए और नवीन राजा ने जब सिंहासन ग्रहण किया तब उसका एक द्वारपाल रोने लगा। राजा ने पूछा कि “तुम क्यों रोते हो ?” द्वारपाल ने कहा—“इसलिए नहीं रोता कि महाराजा चल बसे, क्योंकि जब वह इस मार्ग से आते-जाते थे, तब वह मेरे सिर पर आठ मुक्के जमा जाते थे, मानो मेरे सिर पर हथोड़े की चोट पड़ी हो। किन्तु मुझे यह भय है कि जब वह यमराज के भवन में जायेंगे तो उसके सिर पर आठ बार प्रहार करेंगे और यमराज के परिवार के जन उससे घृणा करेंगे और कहेंगे कि यह कैसा व्यक्ति है, कहीं वे उन्हें वापस न भेज दें।”

नवीन राजा ने मुकान के साथ यह कहा—“मेरे भित्र, विश्वास रखो, वह यमलोक से यहाँ वापस नहीं आयेंगे।”

इस कथा से यह स्पष्ट है कि दुराचारी राजा का भी कोई प्रशंसा नहीं करता और न उसका किसी पर प्रभाव पड़ता है।

वास्तव में शील-शौष्ठव इतना अमूल्य आभूषण है कि जिसके अभाव में न ज्ञान-गरिमा और न विज्ञान-वार्त्ता में ही

कोई तत्व होता है और न विद्वता, पाण्डित्य, तथा कला-कृति का ही जीवन में कोई मूल्य होता है। एक बार अङ्गरेजी के प्रसिद्ध उपन्यास-कार सर वाल्टर स्काट ने किसी को यह कहते सुना कि साहित्यिक प्रतिभा बड़ी उच्चकोटि की देन है और उसका सबसे अधिक आदर होना चाहिए, इस पर सर वाल्टर स्काट ने यह कहा :—

“ईश्वर हमारी सहायता करे ! यदि यह बात सत्य सिद्ध हुई, तो संसार कितना दरिद्र हो जायगा ! मैंने अपने जीवन में अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया है और उच्चकोटि के विद्वानों का सत्संग भी किया है और उनके साथ बहस तथा वार्त्तालाप भी। किन्तु आपको यह आश्वासन देता हूँ कि मैंने संकट तथा आपत्ति काल में दरिद्र तथा अशिक्षित नर-नारियों में ऐसे ऊँचे विचार-भाव सुने हैं, जैसे कि मुझे धर्म-पुस्तक बाइबिल में भी नहीं मिले; हम अपने धर्म तथा कर्तव्य का आदर करना उस समय तक नहीं सीखेंगे, जब तक कि हम हृदय की शिक्षा के मुकाबले में प्रत्येक वस्तु को हेय समझने की शिक्षा न प्राप्त कर लें।”

सदाचार का लक्ष्मी से वैसा ही बैर है जैसा कि उसका (लक्ष्मी का) सरस्वती से है। जो व्यक्ति लक्ष्मी के पुजारी है, उनमें सदाचार-साधना कम मिलेगी। लक्ष्मी की पूजा से सदाचार की साधना में अनेक बाधाएँ पड़ती हैं—उससे सहायता नहीं मिलती। सेमुअल स्माइल्सने अपनी ‘चरित्र’ (Character) नामक पुस्तक में यह लिखा है कि “धन और भ्रष्टता, विलास तथा दुराचार में परस्पर घनिष्ठता है। दुर्बल मनोवृत्ति के लोगों के पास सम्पत्ति हो तो वह एक प्रकार से उनके लिये प्रलोभन और जाल ही बनी रहेगी और उनके तथा दूसरों के लिए वह दुःख का कारण होगी।”

प्रायः यह देखने में आया है कि संसार में जितने भी महा-पुरुष राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन आदि के क्षेत्रों में हुए हैं, उनमें से अधिकांश का जन्म साधारण गरीब परिवार में ही हुआ, किन्तु अपने शील सदाचार के प्रताप से उन्होंने सामाजिक जीवन में महान् स्थान प्राप्त किया ।

जर्मनी के प्रसिद्ध सुधारक मार्टिन लूथर की जब मृत्यु हुई, तो उससे पूर्व अपने वसीयतनामे में उसने “न किसी धन-राशि का उल्लेख किया और न किसी प्रकार की मुद्रा का वर्णन” अपने जीवन-काल में वह इतने गरीब थे कि जीविकोपार्जन के लिए उन्हें माली का काम तथा घड़ियों की मरम्मत का काम करना पड़ता था । किन्तु ऐसी दरिद्रावस्था में रहते हुए भी लूथर ने जर्मनी में जो धार्मिक क्रान्ति की और नैतिक सुधार किए उनके कारण वह देश-पूज्य हो गए ।

जर्मनी में एक दूसरे महापुरुष का जन्म एक कुलीन परिवार में हुआ । किन्तु उन्होंने धन सम्पत्ति और विलासी जीवन का परित्याग कर अपना सम्पूर्ण जीवन संसार के मजदूरों के कल्याण के लिए व्यतीत किया । यह महापुरुष हैं समाजवाद के आचार्य कार्ल मार्क्स, जिनकी विचारधारा का आज संसार के एक बहुत बड़े भाग पर प्रभाव है । कार्ल मार्क्स का अधिकांश जीवन निर्वासन की दशा में व्यतीत हुआ । जर्मनी से निकाल दिए गए और पैरिस, लन्दन, ब्रसेल्स आदि नगरों में रहे । लन्दन में तो इनके दिन बड़ी दरिद्रता में बीते ।

हमारे देश के वर्तमान युग के सबसे महान् विचारक डा० सर्वपल्लवी राधाकृष्णन को आज संसार का कौन विद्वान नहीं जानता । उनका जन्म मद्रास से ४० मील दूर एक छोटे से ग्राम में एक साधारण स्थिति के परिवार में हुआ । उनके पिता न

धनी थे और न कुलीन । किन्तु अपने चरित्र शील व सदाचार के प्रताप से उन्होंने उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त की और वह संसार के राष्ट्रों को आध्यात्मिकता एवं नैतिकता का सन्देश दे रहे हैं ।

शील व सदाचार का प्रभाव दूसरों पर विद्युत् की भाँति पड़ता है । आप जब किसी सुसंस्कृत विद्वान् के साथ वार्तालाप करते हैं, तो आपको कितना आनन्द मिलता है । जब आप सच्चे, सदाचारी और सत्यवादी बालकों के साथ मनोरंजन करते हैं, खेलकूद करते हैं, तो आपके चित्त को कितनी प्रफुल्लता होती है ।

इसी प्रकार जब आप विद्वानों, साधु-महात्माओं और महा पुरुषों द्वारा विरचित ग्रन्थों, पुस्तकों, सटुपदेशों और धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करते हैं, तो आपके विचार और भाव कितने विमल, शुद्ध और ऊँचे बन जाते हैं ।

आप वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों तथा महाभारत, गीता, रामायण बुद्ध-चरित, कुरान, बाइबिल आदि धर्म पुस्तकों में से सुन्दर और उपयोगी प्रवचनों तथा उपदेशों को पढ़कर अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करें । आप स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, योगिराज अरविन्द, महर्षि रामानन्द, विश्व-पूज्य गाँधी जी तथा अन्य महात्माओं के सद्बिचारों का मनन कीजिए । इनसे आपकी विचार-शक्ति प्रखर होगी; आपको अपने चरित्र निर्माण में सहायता मिलेगी ।

अध्याय ३

आत्म-संयम

आत्म-संयम चरित्र-निर्माण का प्रथम सोपान है। चरित्र-निर्माण के लिए सबसे प्रथम आत्म-संयम की आवश्यकता है। आत्म-संयम मानव-प्रगति का मूल है। आज संसार में जो प्रगति दृष्टिगोचर हो रही है, वह सब संसार के विचारकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों, कलाकारों, विज्ञानवेत्ताओं और महापुरुषों के अदम्य उत्साह, अतुल धैर्य और सहनशीलता एवं कष्टसहन का ही प्रतिफल है। आत्म-संयम वास्तव में समस्त सद्गुण का मूल है। मानवीय समस्त गुणों का विकास इसी के द्वारा संभव है।

आत्म-संयम मानव-प्रगति का आधार है और साथ ही उसका लक्षण भी है। आधार तो वह इस अर्थ में है कि मानव प्रगति के लिए जिन साधनों, शक्तियों एवं कार्यों की आवश्यकता होती है वे आत्म-संयम द्वारा ही संभव हैं। यह प्रगति का लक्षण इस अर्थ में है कि मानव-समाज जितना ही अधिक सभ्य और सुसंस्कृत होगा उसके व्यक्तियों में उतना ही अधिक आत्म-संयम होगा। वस्तुतः यदि समाज के व्यक्ति आत्म-संयम का पालन न करें, तो समाज की व्यवस्था एक क्षण में विनष्ट हो जाय। अतः आत्म-संयम जहाँ व्यक्ति के विकास एवं उसकी स्वतंत्रता के भोग के लिए आवश्यक है, वहाँ वह समाज के कल्याण के लिए भी परम आवश्यक है।

आत्म-संयम का अर्थ है अपने विचारों-मनोभावों, भाषण, लेखन और कार्यों पर नियंत्रण। यदि हम अपने विचारों

भाषण व कार्यों पर समुचित नियंत्रण न रखें, तो उससे न केवल हमारा ही अनिष्ट होगा वरन् दूसरे व्यक्तियों को भी हानि पहुँचेगी। उदाहरणार्थ हम समाज में ऐसे विचार प्रकट करें कि जिनसे समाज के विविध समुदायों में द्वेषभाव उत्पन्न हो और साम्प्रदायिकता की भावना प्रबल हो उठे, तो इससे निज हानि के साथ समाज का भी अहित होगा। इसी प्रकार हम विविध धर्मों और उनकी संस्थाओं की निन्दा करें और इस संबंध में उत्तेजनकारी लेख लिखें, तो इससे भी समाज की हानि होगी। किसी व्यक्ति के लिए अपमानजनक बातें लिखना भी अनुचित है। सेमुअल इस्माइल्स ने इस संबंध में यह लिखा है कि “सबल आदमी वह है जो अनुशासन द्वारा अपने विचारों, भाषण व कार्यों पर सतत नियंत्रण रखता है। पुष्ट आत्म-अनुशासन, आत्म-सम्मान और आत्म-संयम के सामने वे अधिकांश दूषित इच्छाएँ, जो समाज को पद-दलित करती हैं और जब उनकी पूर्ति करने की चेष्टा की जाती है, तो वे ऐसे अपराधों में परिणत हो जाती हैं, जिनसे मानव का गौरव नष्ट होता है, विलीन हो जायगी।”*

यद्यपि चरित्र-निर्माण अधिकांश में व्यक्ति की वंश-परम्परा, स्वभाव, शारीरिक अवस्था, पारिवारिक स्थिति, शिक्षण तथा सामाजिक वातावरण पर निर्भर होता है तथापि प्रत्येक व्यक्ति आत्मसंयम तथा अनुशासन द्वारा अपने चरित्र का निर्माण कर सकता है।

आत्म-संयम बड़ा व्यापक अर्थ रखता है। उसका केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि हम अपनी स्थूल इन्द्रियों कर्मेन्द्रियों पर ही नियंत्रण रखें। उसका अर्थ तो इससे भी व्यापक है। हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में अपनी कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों और

*Samuel Smiles : Character p. 159.

मन पर ही नहीं, बरन् सामाजिक, व्यवसायिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक जीवन में भी आत्म-संयमी होना परम आवश्यक है। हम अपनी स्वादेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, उपस्थेन्द्रिय, वाक्-शक्ति, श्रवण-शक्ति, तथा चक्षु आदि पर नियंत्रण रखें। हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि इन इन्द्रियों का कोई दुरुपयोग न हो। प्रत्येक इन्द्रिय से हम उचित रीति से काम लें और उसके दुरुपयोग से बचें। इन्द्रियों का सदुपयोग उन पर नियंत्रण करने से ही संभव है। यदि हम उनका नियंत्रण कर उनके दास बन जायेंगे, तो हमारा पतन हो जायगा और हम अपना चरित्र-निर्माण न कर सकेंगे।

हुसेन पेगम्बर मुहम्मद के पौत्र थे। वह सम्पन्न कुल के थे और उनके पास धन-धान्य की कमी नहीं थी। उनकी क्रोधाग्नि को जगाना मानो एक संकट खड़ा करना था।

हुसेन एक दिन खाना खा रहे थे, एक दास गरम जल का पात्र लेकर उधर से निकला; संयोग से पात्र में से जल हुसेन पर गिर गया। हुसेन ने जोर की चीख मारी। दास बड़ा चतुर वाक्-पटु था। वह घुटनों के बल बैठ गया और कुरान की निम्नलिखित आयत पर विचार करने लगा—

“स्वर्ग उन्हीं के लिए है जो अपने क्रोध का दमन करते हैं; स्वर्ग उनके लिए है जो मनुष्यों को अभयदान देते हैं; क्यों कि ईश्वर परोपकारियों से स्नेह करता है।”

उसने सबसे पहले कहा—

“स्वर्ग उनके लिए है जो क्रोध का दमन करते हैं।”

हुसेन ने कहा—“मैं क्रुद्ध नहीं हूँ। दास ने कहा—“स्वर्ग उनके लिए है जो मनुष्यों को अभयदान देते हैं।”

हुसेन के कहा—“मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ।”

दास ने कहा—“क्यों कि ईश्वर परोपकारी को स्नेह करता है।”

अब हुसेन का हृदय क्षमादान देकर इतना आर्द्र हो गया कि उसने उत्तर में कहा—

“तुम अब दास नहीं रहे; तुम स्वतंत्र हो और ये ४०० रजत मुद्राएँ ले लो।”

यह हुसेन के आत्म-संयम का एक सुन्दर उदाहरण है। आत्म-संयम वास्तव में मानव में जो श्रेष्ठता है, उसे प्रकट कर देता है।

आत्म-संयम का एक दूसरा उदाहरण भी लीजिए—

एक बार आबू आथमान हिरी को एक भोज में निमंत्रित किया गया। जब वह निमंत्रण देने वाले के गृह पर पहुँचे, तो वह द्वार के बाहर निकल कर कहने लगे—

“मान्यवर ! मैं आपको भीतर नहीं ले जा सकता; इसलिए आप प्रस्थान करें; ईश्वर आप पर दया करे।”

आबू आथमान अपने घर वापस चले गए

वह अपने मकान में घुसे ही थे कि मित्र उसके पीछे ही वहाँ पहुँचे और फिर उन्हें भोज का निमन्त्रण दे दिया।

आबू फिर उस मित्र के साथ हो लिए। फिर उन्होंने अपने द्वार को रोक कर कहा कि “क्षमा करो।” आबू फिर अपने घर बिना किसी प्रकार की शिकायत किए वापस चले गए। आबू सारे नगर में बड़े शान्ति-प्रिय और सन्तोषी माने जाते थे। तीसरी और चौथी बार भी ऐसा ही हुआ। अन्त में उस मित्र ने कहा—

“आबू ! मैंने ऐसा बर्ताव इसलिए किया है कि आपके सन्तोष की परीक्षा लूँ । अब मैं आपके सन्तोष की सराहना करता हूँ ।” आबू ने उत्तर दिया—“मेरी प्रशंसा मत करो, क्योंकि कुत्ते भी इस सद्गुण का अभ्यास कर सकते हैं । जब उन्हें बुलाया जाता है, तब वे आ जाते हैं और जब उनका पीछा किया जाता है, तब वे नौ-दौ ग्यारह हो जाते हैं ।”

इसमें सन्देह नहीं कि आबू एक महान् आत्मा थी । एक साधारण पुरुष में इतना संयम कहा । यह भी सत्य है कि साधारण पशु भी अभ्यास द्वारा संयम का पाठ सीख सकते हैं । फिर मनुष्य के लिए तो यह और भी सरल है ।

आत्म-संयम के लिए मन पर नियन्त्रण की परम आवश्यकता है । मन पर नियंत्रण निरन्तर अभ्यास से ही हो सकता है । मन को बुरे विचारों से मुक्त रखना अतीव आवश्यक है । इसके लिए मन को सदैव किसी न किसी सत्कार्य में लगाए रखना चाहिए । अंग्रेजी में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि “खाली मन शैतान का स्थान होता है” (A vacant mind is a devils workshop) । उत्तमोत्तम पुस्तकों के पढ़ने, सदाचारी मित्रों के साथ वार्त्तालाप करने, किसी रचनात्मक कार्य में संलग्न रहने और सत्पुरुषों की संगति में रहने से मन पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है ।

विचार-संयम, वाक्-संयम और कर्म-संयम इन तीनों की आवश्यकता है । विचारों में संयम से मनुष्य के विचार पुष्ट और ऊंचे बनते हैं; उसमें सहनशीलता, धैर्य और सन्तोष की अभिवृद्धि होती है । वह दूसरों के विचारों का आदर करना सीखता है और उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति पैदा होती है ।

वाक्संयम—बाणी का संयम—भी बहुत आवश्यक है। मनुष्य को सदैव सत्य भाषण करना चाहिए। इसके लिए भी संयम की आवश्यकता है। कम बोलना और जितना आवश्यक है उतना ही बोलना चाहिए। जो व्यक्ति अधिक बोलते हैं; उन्हें व्यर्थ बातें, असत्य बातें और बुरी बातें कहने की आदत पड़ जाती है। वे दूसरों की निन्दा करने, दूसरों पर कटाक्ष करने तथा दूसरों की आलोचना करने में बड़ा आनन्द लेते हैं। इस प्रकार अनायास ही वे कटुता पैदा कर लेते हैं और शत्रुता, द्वेष एवं स्पर्धा के बीज बो लेते हैं। किसी व्यक्ति की निन्दा करने या अनुचित आलोचना करने से कभी कभी बड़े अनिष्टकारी परिणाम निकलते हैं। टामस हार्डी अंग्रेजी के एक महान उपन्यासकार थे। उनकी तीव्र आलोचना की गई। परिणाम-स्वरूप उन्होंने उपन्यास लिखना ही त्याग दिया। आलोचना के प्रभाव से ही अंग्रेजी कवि टामस चैटरटन ने आत्महत्या कर ली ! बैजामिन फ्रांक्लिन यह कहा करते थे कि उनके जीवन की सफलता का रहस्य इसमें था कि वह किसी भी व्यक्ति की निन्दा नहीं करते थे।

व्यक्तियों की निन्दा करना अत्यन्त सरल है। कोई भी मूर्ख इस कार्य को बड़ी कुशलता के साथ कर सकता है। किन्तु उनकी निन्दा करने के स्थान में उनके विचारों, दृष्टिकोण और मनोभावों को समझने का प्रयत्न करना कहीं अधिक लाभदायक और उत्तम होता है। इससे दूसरों के प्रति सहानुभूति, सहनशीलता और दया का प्रादुर्भाव होता है और द्वेष, वैर तथा स्पर्धा का विनाश।

अध्याय ४

स्वावलम्बन

स्वावलम्बन अथवा आत्म-निर्भरता आत्म-संयम में सहायक होता है। आत्म-संयमी मनुष्य किसी भी कार्य के लिए दूसरे के आश्रय रहना नहीं चाहता। वह स्वयं अपने उद्योग से कार्य का संपादन करता है। स्वावलम्बन वास्तव में मनुष्य का एक मूल्यवान् गुण है। स्वावलम्बी पुरुष पुरुषार्थी होता है; वह उद्योग करने में आनन्द का अनुभव करता है; वह अपने श्रम के गौरव का महत्व समझता है और अपनी श्रम-शीलता के कारण वह संसार में नूतन आविष्कार एवं अन्वेषण करने की ओर प्रवृत्त होता है।

जिस देश के व्यक्तियों में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति जितनी अधिक विकसित होगी, वह देश संसार में उतना ही अधिक स्वावलम्बी होगा।

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी अपने देशवासियों को सदैव आत्म-निर्भरता अथवा स्वावलम्बन का उपदेश दिया करते थे। वह यह कहा करते थे कि भारत के सात लाख ग्रामों के करोड़ों निवासियों को किसी भी बात में नगरों पर निर्भर न रहना चाहिए। प्रत्येक ग्राम स्वाश्रयी होना चाहिए; वह अपने भोजन, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करे। उन्हें इससे बड़ा दुःख होता था कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश को अमेरिका, आस्ट्रेलिया व रूस से अन्न मंगाना पड़ता है। वह भारत में प्रचलित अन्न-राशन की व्यवस्था को अनैतिक मानते थे। अन्न के वितरण की व्यवस्था जनता स्वयं करे, उसे इसके लिए सरकार द्वारा संचालित राशन-व्यवस्था पर क्यों निर्भर रहना चाहिए।

आज हमारा देश राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने पर भी आर्थिक दृष्टि से पराधीन है ।

हमारे देश में अनेक प्रकार की आवश्यक मशीनों-यंत्रों तथा वस्तुओं का निर्माण नहीं होता । हमें अपने उस्तरे से लेकर रेल के इस्खिनों तक के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता है ! जो देश स्वावलम्बी नहीं होते, उनकी स्वतंत्रता भी सदैव संकट में रहती है । दूसरे देश अपने उद्योग, पूँजी, और व्यापार द्वारा उस पर अपना आर्थिक अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं और शनैःशनैः यह आर्थिक आधिपत्य राजनीतिक आधिपत्य में परिणत हो जाता है ।

मनुष्य को स्वावलम्बी बनने के लिए आत्म-विश्वासी होना चाहिए । जीवन में सफलता की सबसे बड़ी कुञ्जी आत्म-विश्वास है । आत्म-विश्वास से बड़े कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं । इसलिए स्वावलम्बन के गुण का विकास करने से पूर्व मनुष्य को आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न करना चाहिए ।

स्वावलम्बन के लिए परिश्रम-शीलता, साहस और सहयोग की बड़ी आवश्यकता है । कुछ व्यक्ति इस पर आश्चर्य करेंगे कि स्वावलम्बन के लिए सहयोग की आवश्यकता क्यों है । समाज में कोई भी व्यक्ति समस्त कार्यों को स्वयं नहीं कर सकता । आप कोई भी कार्य करें, उसमें आपको अनेक व्यक्तियों का सहयोग लेना होगा । सहयोग का कार्य यह नहीं कि आप दूसरों पर निर्भर रहें । उदाहरणार्थ, आप एक उपभोक्ता अन्न-भांडार खोलना चाहते हैं, अथवा आप एक प्रकाशन-सहकारी संघ खोलना चाहते हैं, तो इसके लिए आपको १००-२०० सदस्य बनाने होंगे—फिर आपको अन्न-विक्रेताओं से सहयोग करना होगा; आपको अन्न के लाने के लिए यातायात के लिए सहयोग

करना होगा; सैकड़ों मजदूरों का सहयोग प्राप्त करना होगा। इसी प्रकार प्रकाशन-संघके लिए आपको लेखकों, कवियों, पुस्तक-विक्रेताओं, प्रेस के कर्मचारियों, कागज-विक्रेताओं आदि से सहयोग करना होगा।

भारत के सुप्रसिद्ध नेता श्री गोपालकृष्ण गोखले का जन्म रत्नगिरी जिले के एक ग्राम में गरीब माता-पिता के हुआ था। पिता बाल्यकाल में ही स्वर्ग सिधारे। माता और बड़े भाई के आश्रय ही उन्हें रहना पड़ा। गोखले के चाचा भी बड़े गरीब थे; किन्तु उन्हें इन पितृहीन बालको पर दया आई और गोखले के बड़े भ्राता को (१५) मासिक की नोकरी दिलवा दी। भाई का प्रेम भी देखिए कि वह इन (१५) रुपयों में से प्रतिमास ८) गोखले के लिए भेजते थे। इस अल्प धन में से वह अपने स्कूल की फीस, छात्रावास की फीस अपने भोजन का व्यय और पुस्तकें कागज-दवात आदि का खर्च चलाते थे ! किन्तु अपनी शिक्षा समाप्त कर वह एक अभ्यापक बन गए। इस प्रकार उत्साह, अध्यवसाय और स्वावलम्बन से वह भारत के एक महान् राजनेता और समाज-सुधारक बन गए।

स्वावलम्बन की हमारे देशवासियों को बड़ी आवश्यकता है। बचपन से ही माता-पिता को बालकों में अपना काम स्वयं करने का अभ्यास डालना चाहिए। प्रत्येक बालक को अपना कार्य यथाशक्ति स्वयं करना चाहिए और जिसके करने में दूसरे की सहायता की आवश्यकता हो, उसे दूसरों के सहयोग से करना चाहिए। हमारे देश में ग्रामों व नगरों की स्वावलम्बी होना चाहिए। यही नहीं, प्रत्येक परिवार एवं उसके सदस्यों में स्वावलम्बन की भावना होनी चाहिए।

अध्याय ५

सत्यता

चरित्र-निर्माण के लिए सत्यता परम आवश्यक गुण है। जो व्यक्ति सत्यवादी होता है, जो दूसरों के साथ सत्यता का व्यवहार करता है, उसका सदैव समाज में आदर होता है; दूसरे उसके प्रति श्रद्धा, और विश्वास रखते हैं। दूसरे व्यक्तियों की सहानुभूति, प्रेम, मित्रता, श्रद्धा और विश्वास प्राप्त करने के लिए सत्यता अथवा सत्याचरण से उत्तम और कोई साधन नहीं है। समाज में सद् व्यवस्था उसी समय तक रहती है जबकि व्यक्ति सत्य भाषण करते हैं, दूसरों के साथ निष्कपट आचरण करते हैं, तथा दूसरों को संकट में डालने के लिए कोई प्रपंच नहीं रचते।

आज हम यह देखते हैं कि समाज में व्यक्ति इस गुण का उतना आदर नहीं करते जितना कि चपलता अथवा छलवाद का। इसीलिए आज हम देखते हैं कि समाज में जो सदाचारी, सत्यवादी और सच्चे ईमानदार हैं, उनका प्राधान्य नहीं रहा है और जो छलवादी, मिथ्याचारी तथा बेईमान हैं, वे अपनी चातुरी से बल से समाज में सर्वेसर्वा बने हुए हैं। आज देश के जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में जो भ्रष्टाचार, बेईमानी और छलवाद परिर्व्याप्त है, उसका प्रमुख कारण यह है कि व्यक्तियों में सत्यता से प्रेम नहीं रहा है; इसीलिए वे बड़ी सरलता के साथ भ्रष्टा के प्रवाह में वहे चले जा रहे हैं।

समाज में सद्-व्यवस्था के लिए सत्यता अत्यन्त आवश्यक है। यदि व्यक्ति बेईमानी करें, भूठ बोलें और छलकपट का व्यवहार करें, तो इससे समाज में दुराचार बढ़ेगा और साथ ही व्यवसाय व व्यापार में भी बड़ी बाधा पड़ेगी। किसी का किसी पर न विश्वास रहेगा और न श्रद्धा।

प्रत्येक मनुष्य का यह धर्म है कि वह बहुत ही सोच-विचार कर भाषण करे; उसके मन में जैसा विचार हो, उसे वह बिना किसी भय अथवा लोभ-मोह के स्पष्ट रूप से कहे और जैसा-कहे, वैसा ही आचरण करे। किन्तु उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह कोई दुर्बचन, अप-बचन अथवा विषैली बात न कहे; क्योंकि विचार या बचन का प्रभाव तीर और तोप से भी भयानक होता है। तीर-तोप मन व आत्मा को चीर नहीं सकते; किन्तु विचार व बचन आत्मा व मन को भी वेध सकते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि अनेक पुरुष केवल विचार मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

प्रतिज्ञा-पालन बहुत ही आवश्यक है। पहले तो प्रतिज्ञा बड़े सोच-विचार के साथ करनी चाहिए और जब प्रतिज्ञा कर दी जाय तो उसका पालन सच्चाई के साथ करना चाहिए।

दधीचि ने देवताओं से जो प्रतिज्ञा की उसका किस प्रकार पालन किया।

विष्णु ने कहा—“हे देवगण ! मैंने एक योजना सोची है।”
देवगण ने कहा—“हमें बताइए।”

विष्णु ने कहा—“नैमिषा वन में दधीचि नामक एक तपस्वी बड़ी कठोर तपस्या का जीवन बिता रहा है। यदि दधीचि हमें अपनी अस्थि देदे, तो हम उससे अपने शत्रुओं का नाश कर सकेंगे।”

“आप जायें और उनसे दान मांगें।” देवगण ने कहा।
इस पर विष्णु उस वन में गए और दधीचि से कहा—

“क्या देवों की राक्षस से रक्षा करने में आप सहायता करेंगे ?”

“मैं सहायता करूंगा।”

“क्या आप हमें ऐसी चीज़ देंगे, जो आपको सबसे प्रिय है।”

“मैं दे दूंगा।”

“क्या आप वैसा करेंगे जैसा देवगण कहेंगे ?”

“मैं वैसा ही करूंगा।”

“तब, दधीचि, अपनी अस्थियां मुझे दे दो।”

इस पर दधीचि ने अपनी अस्थियां दे दीं। उन अस्थियों से वज्र बनाया गया। इस वज्र से इन्द्र और विष्णु ने वृत्र राक्षस पर विजय प्राप्त की। राजा दशरथ की तीसरी रानी कैकेई ने जब यह देखा कि कल राजा रामचन्द्र का राज्यरोहण होगा, तो वह कोप-भवन में अस्त-व्यस्त दशा में पलंग पर जा लेटी। सबमें हर्षोत्सव की तैयारियां हो रही थीं। राजा दशरथ उसकी खोज में इधर-उधर जा रहे थे कि कोप भवन में उन्हें रानी देख पड़ी। इस प्रकार के कोप का कारण पूछा और राजा ने कहा कि कल राम को राज-गद्दी मिलेगी। तुम्हें यह समझना चाहिये कि भरत को ही—राजगद्दी मिलनी है; प्रसन्नवदन हो कैकेई ने इस अवसर से लाभ उठाकर राजा से कहा कि—“राम की शपथ लेकर कहो कि तुम मुझे वरदान दोगे ?”

राजा दशरथ ने स्वीकार कर लिया। कैकेई ने दो बार मांगे; एक तो भरत को राजगद्दी मिले और दूसरा राम औदह वर्ष

बनवास करें। राजा दशरथ के हृदय को इससे घोर असह्य वेदना हुई और वह मूर्च्छित होकर धराशाथी हो गए !

ये वास्तव में असाधारण प्रतिज्ञाओं के उदाहरण हैं। हमें ऐसी प्रतिज्ञा नहीं देनी चाहिए जिससे समाज का अथवा जिसे प्रतिज्ञा दी गई है उसका लाभ न हो अथवा लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो। इसीलिए हमने इस बात पर जोर दिया है कि प्रतिज्ञा बड़े सोच-विचार के साथ की जाय।

सत्य-भाषण के साथ-साथ हमें अपने व्यवहार-कर्म में भी सत्यता का निर्वाह करना चाहिए। जब हम सत्य का प्रयोग बचन में करते हैं, तो उसे सत्यवादिता कहते हैं और जब उसका प्रयोग कर्म में—व्यवहार में करते हैं तब उसे हम सच्चाई (Sincerity) कहते हैं। आज की सभ्यता में हम अपनी वाणी से जो कुछ कहते हैं, हमारे हृदय में वैसा भाव नहीं होता और हम जो कुछ कहते हैं, वैसा करते नहीं।

हम बोल-चाल में प्रायः यह कहा करते हैं—“यदि आप ऐसा करेंगे, तो मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँगा।” “मैं आपकी इस कार्य में सहायता करने में प्रसन्नता का अनुभव करूँगा।” “मैं आपका समर्थन अवश्य करूँगा; क्योंकि आपका पक्ष न्यायपूर्ण है।” “मैं आपकी सहायता करने में अपना सौभाग्य समझूँगा।” इत्यादि; किन्तु वास्तव में हम इस प्रकार के बचन केवल शिष्टाचार के रूप में ही कह कर अपने कर्तव्य की इति—श्री समझ लेते हैं। अमेरिका और सोवियत रूस में परस्पर संघर्ष चल रहा है। एक दूसरे पर अनेकों भयंकर आरोप करता है। और इन्हीं देशों के राजदूत या वैदेशिक-मंत्री जब पेरिस में परस्पर मिलते हैं, तो बड़ा स्नेह दिखलाते हैं; कैमरामैन

के सामने ऐसा 'पोज' देते हैं कि मानों दोनों में प्रगाढ़ मैत्री है। इस प्रकार के प्रदर्शन में सच्चाई नहीं।

महाभारत का एक प्रकरण इस संबंध में बहुत ही उपयुक्त है। महाराजा दुर्योधन के राज-प्रासाद में प्रीतिभोज का बड़े राजसी ठाठ-बाठ के साथ आयोजन किया गया। जिन पात्रों में भोजन और पेय परोसा गया, वे रजत और स्वर्ण के थे और उनसे रत्न जड़े हुए थे। भगवान् कृष्ण को इस भोज में आमंत्रित किया गया; परन्तु वह उसमें नहीं गए। श्रीकृष्ण को एक दूसरे भोज में आमंत्रित किया गया। इसका आयोजन एक दीन शूद्र ने किया था। वह गरीब था, इसलिए कांसे के पात्र में साधारण भोजन परोसा गया।

इन दोनों भोजों में से श्रीकृष्ण को दूसरा भोज ही अच्छा लगा। क्योंकि उसमें उन्हें श्रद्धापूर्वक आमंत्रित किया गया था और पहले भोज का निमन्त्रण दुर्योधन ने अभिमान में आकर दिया था। इसी प्रकार प्रेम-वश होकर भगवान् राम ने भिल्ली के जूठे बेर खाये थे। *

अध्याय ६

साहस और धैर्य

मानव जीवन के विकास एवं चरित्र-निर्माण के लिए साहस और धैर्य की सबसे अधिक आवश्यकता है। साहस से तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति समय-कुसमय अपने पाशाविक बल का आतङ्क शारीरिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों पर जमावे। इस प्रकार का शारीरिक साहस समाज के विकास के लिए उपयोगी नहीं होता और न उससे व्यक्ति का ही कल्याण होता है।

शारीरिक साहस से अधिक मूल्यवान और समाजोपयोगी है नैतिक साहस। संसार में जितने भी महान् वैज्ञानिक, समाज-सुधारक, धार्मिक नेता, और आचार्य हुए हैं, उन सबों ने अदम्य साहस का परिचय दिया है। वास्तव में नैतिक साहस ही मानवता या पुरुषत्व का प्रतीक है। विपरीत स्थिति में, घोर संकट में भी अपने लक्ष्य का त्याग न करना, सत्य, न्याय और धर्म का पक्ष लेना नैतिक साहस के बिना सम्भव नहीं। मानव-जीवन की रक्षा के लिए साहस और धैर्य की बड़ी आवश्यकता है।

संस्कृत के महा-कवि भवभूति ने अपने प्रसिद्ध नाटक माधव-मालती में माधव की कथा का जो वर्णन किया है, वह नैतिक साहस का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

माधव एक देव-मन्दिर के बाहर घुटने टेक कर बैठ जाता है। वह एक आर्चनाद सुनता है। वह मन्दिर में प्रवेश करता है और देवी चामुण्डा के भवन की भांकी करता है। वह देखता

है कि उस पर एक नारी की बलि दी जाने वाली है। वह नारी मालती है। जब मालती को मन्दिर में ले जाया गया, तब वह विलाप करती गारही थी। मन्दिर में पुजारी, पुजारिन और मालती के अतिरिक्त कोई नहीं। मालती माधव को प्रेम करती थी, इस समय उसका ध्यान माधव की ओर जाता है; इसी समय पुजारी खड्ग हाथ में उठाता है।

“हे माधव ! मेरे हृदय-मन्दिर के देव ! मृत्यु के गोद में सो जाने के बाद मैं तुम्हारे स्मृति-मन्दिर में बनी रहूँ। जो प्रेम की स्मृति में दीर्घ-काल तक रहते हैं, उनकी मृत्यु नहीं होती।”

एक ध्वनि के साथ माधव उस बलि-भवन में प्रवेश करता है। माधव और पुजारी के बीच भयङ्कर वाक्-युद्ध होता है और वे तुरन्त ही युद्ध में प्रवृत्त हो जाते हैं। मालती की प्राण-रक्षा हो जाती है।

माधव ने किसके लिये उत्साह या साहस दिखलाया ? क्या वह अपने लिये लड़ा ? हां, वह अपने लिये लड़ा। क्या उसके इस साहस का यही एक कारण था ? नहीं, वह दूसरे के लिए लड़ा। उसने मन्दिर से बाहर आर्त्तनाद सुना और वह तुरन्त ही दुःखिया की रक्षा करने मन्दिर में घुम गया। इस प्रकार की अनेक घटनायें नित्य प्रति देखने में आती हैं। नारी की रक्षा मनुष्य का धर्म है। वह सखा है, वह जननी है और वह माता है। वह पूजनीय है, इसलिए उसकी रक्षा करने में साहस का प्रयोग होना चाहिए।

हम यह देखते हैं कि समाज में दुष्ट-जन सदैव नारी की ओर दृष्टि डालते हैं—रेल में, बस में, सभा में, बाज़ार में, घाट पर, ऐसे अवसरों पर पापी, दुष्ट और लुटेरे नारी को आभूषण आदि से हीन कर देते हैं और उसका सतीत्व भी नष्ट करने

की चेष्टा करते हैं, ऐसे अवसर पर दुःखी एवं आपदग्रस्त नारी के चीत्कार को सुककर कौन ऐसा पुरुष होगा, जो उसकी सहायता नहीं करेगा। इस प्रकार के दुष्ट एवं आततायी जनों से बहिनों तथा माताओं की रक्षा करना प्रत्येक पुरुष का धर्म है। यदि उनकी जीवन-रक्षा करने में आततायी का प्राणन्त भी हो जाय, तो धर्म, सदाचार और देश का कानून (भारतीय दण्ड विधान) आपकी रक्षा करेगा !

देश में जब बाढ़, अग्नि-काण्ड, भूकम्प, दुर्भिक्ष, उपद्रव आदि घटनायें होती हैं, तब हमारे साहस की परीक्षा का समय आता है।

व्यक्ति बालकों की संकट से रक्षा, देश पर शत्रु के आक्रमण तथा रोग आदि प्रकोपों के समय साहस का परिचय देते हैं और ऐसे अवसरों पर अपना सर्वस्व तक बलिदान कर देते हैं।

रामायण में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनसे नैतिक साहस का परिचय मिलता है। इनमें से एक विभीषण का भी प्रसंग है। रावण सीता का हरण कर ले आया। राम ने लंका पर चढ़ाई की तैयारी कर दी। जब यह समाचार रावण को मिला तो एक बार वह भय से कम्पित हो गया। उसकी राज्य-सभा के सदस्य एकत्रित हुए और सबों ने यही परामर्श दिया कि राम, और हनुमान पर रावण विजयी होंगे। जब सब सभासद अपनी चाटुकारिता-पूर्ण बातें कर चले गए; तब रावण के भाई विभीषण ने रावण के चरण-स्पर्श कर राजगद्दी पर उसके दक्षिण-पक्ष में बैठकर कहा—

“हे मेरे भ्राता, यदि तुम कुशल चाहते हो और आनन्द से रहना चाहते हो और इस लंका द्वीप को सुरक्षित रखना चाहते हो तो सुन्दरी सीता को वापस भेज दो; क्योंकि वह पर पुरुष की

स्त्री है। रावण के पास जाकर उनसे क्षमा मांगों। अभिमान और मूर्खता मत करो।”

विभीषण ने बड़ी विनय की और उसके चरण पकड़ लिए किन्तु अभिमानी रावण ने उसे ठुकरा दिया और कहा कि यह शत्रु से मिल गया है।

विभीषण ने, वास्तव में, अदम्य साहस का परिचय दिया। यदि रावण ने उसकी बात मान ली होती, तो राम-रावण युद्ध न होता और आज हम रामायण को एक दूसरे की काव्य के रूप में देखते। विभीषण का साहस शारीरिक और नैतिक साहस था ! उसने रावण के क्रोध और रोष की कुछ भी चिन्ता न कर उसे सच्ची सलाह दी।

संसार के इतिहास में नैतिक साहस के उदाहरण भरे पड़े हैं। यूनान के विश्व-विख्यात महात्मा सुकरात को अपने विचारों के कारण विषपान करना पड़ा। उस पर यह दोषारोप लगाया गया कि वह अथेन्स के देवी-देवताओं के प्रति युवकों में घृणा के भाव उत्पन्न करता है। रोम में ब्रूटो ने अपने युग की दार्शनिक विचारधारा की आलोचना की और इसके लिए उन्हें जीवित जला दिया गया। गेलिलियो ने पृथ्वी की गति के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये, उनके लिए उसे कारागार में रहना पड़ा। उसे अनेक प्रकार की यातनाएँ पादरियों की ओर से दी गईं और अन्त में जब उसकी मृत्यु हो गई, तब रोम के पोप ने उसके लिए समाधि भी नहीं बनाने दी ! रोजर बेकन ने प्राकृतिक दर्शन का अध्ययन किया तथा रसायन की खोज की। उसे जेल में डाल दिया गया और वर्षों उसी में रहा। वहीं उसको मृत्यु हो गई। स्पिनोज़ा को अपने दार्शनिक विचारों के कारण यहूदी जाति से बहिष्कृत कर दिया। आजीवन वह निर्वासित रहा

और अन्त में बड़ी दुःखद अवस्था में उसकी मृत्यु हुई। डिस्कार्टीज के दार्शनिक विचारों को अधार्मिक कह कर निन्दा की गई। लाक के सिद्धान्तों को भौतिकवादी कहा गया। वास्तव में ज्योतिष, प्राकृतिक विज्ञान और भौतिक विज्ञान के क्षेत्रों में ऐसी कोई भी खोज नहीं है, जिसे धर्माचार्यों ने (पादरी-वर्ग ने) अधार्मिक और नास्तिक न कहा हो।

डा० हारवे ने रक्त-संचालन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकाशित किए तो चिकित्सा-जगत में उन्हें मूर्ख कहा गया। जर्मनी में मार्टिन लूथर ने ईसाई-मत में सुधार का बीड़ा उठाया। देशभर में उसका प्रबल विरोध किया गया। अन्त में जर्मनी के सम्राट ने उसे बुलाया और यह आग्रह किया कि वह अब भी अपने विचारों को बदल दें। इस पर लूथर ने जवाब दिया—

“महाराज् ! जब तक मुझे धर्म-पुस्तक के प्रमाण अथवा प्रत्यक्ष साक्ष्य द्वारा विश्वास न हो जाय, मैं एक कदम भी नहीं हटूँगा और न हट सकता हूँ; क्योंकि मुझे अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध कभी कार्य न करना चाहिये। यही मेरा दृढ़ मत है और इसमें मैं “कदापि विचलित नहीं हो सकता।”

हमारे देश में भी जब महर्षि दयानन्द ने आर्य-समाज की स्थापना कर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का बीड़ा उठाया और देश में प्रचलित अनेकों वेद-विरोधी मत-मतान्तरों का खण्डन किया उनकी आलोचना की, तो अनेक उनके शत्रु होगए। ‘सनातनी’ हिन्दू तो उनके कट्टर विरोधी हो गए। जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, पारसी सभी उनके शत्रु बन गए। अन्त में विरोधियों ने उनके रसोइए द्वारा उनको कांच पिला दिया, जिसके कारण उनकी असामयिक मृत्यु हो गई ! देशभक्त तथा आर्य-समाज के महान नेता स्वामी श्रद्धानन्द सन्यासी को भी

अपने विचारों के कारण एक मुस्लिम के द्वारा बलि होना पड़ा। हमारे देश के सैकड़ों नवयुवकों, देशभक्त तरुण युवकों ने देश की स्वाधीनता के लिए प्राणदण्ड हंसते-हंसते स्वीकार किया। क्रान्तिकारी वीरात्मा यतीन्द्र, भक्तसिंह, वटकेश्वर दत्त, आज़ाद आदि महान वीरों की जीवन कथाएँ उत्साह और वीरता की अमर कहानियाँ हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भारत के महान् अद्वितीय नेता थे, जो राजनीतिक नेता होने के साथ-साथ बड़े क्रान्तिकारी विचारक सुधारक, संस्था-संचालक, संपादक और आन्दोलन-कारी थे। वह वास्तव में नैतिक बल एवं नैतिक उत्साह की साकार प्रतिमा थे। अपने विचारों पर दृढ़ता जैसी गांधीजी में थी, वैसी किसी अन्य नेता में नहीं देखी गई। वह स्वयं कहते थे कि यदि मेरी अहिंसा का पालन करने वाला केवल मैं ही अकेला रहूँ। तो भी मैं उसी से चिपटा रहूँगा; मैं इसकी परवाह नहीं करूँगा कि कोई उसका पालन करता है या नहीं। उनका संपूर्ण दर्शन-शास्त्र तथा आन्दोलन का कार्यक्रम नैतिकता-पूर्ण था। अपने स्वतंत्र विचारों के कारण ही ३० जनवरी १९४८ को बिड़ला भवन में नाथूराम विनायक गोडसे नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण द्वारा उनकी हत्या कर दी गई।

साहस और सहनशीलता अथवा धैर्य—ये दोनों अभिन्न हैं; बिना साहस के धैर्य नहीं और न धैर्य के बिना साहस टिक सकता है। ये दोनों सहोदर भ्राताओं के समान हैं।

मानव-जीवन में दुःख-सुख, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद; शान्ति अशान्ति की छाया सदैव रहती है; वास्तव में सुख के साथ दुःख और हर्ष के साथ विषाद जुड़ा हुआ है। जबतक आप ग्रीष्म के ताप से उत्पीड़ित नहीं हो जाते, तबतक आपको

वसन्त की शीतल, मन्द समीर का क्या आनन्द मिलेगा । दुःख अनुभव करने पर ही हम सुख का मूल्यांकन करते हैं ।

पंजाबी में एक लोकोक्ति प्रचलित है जिसका सारांश निम्न प्रकार है :—

“बुलबुल सदैव बाग में संगीत नहीं सुनाती;
बाग में सदा बहार नहीं होती;
राजा सदैव सुख से राज नहीं करते;
प्रेमी भी सदा एक साथ नहीं रहते।”

इसका अर्थ यह है कि जीवन में सदैव सुख, शान्ति और आनन्द नहीं होता; जीवन में अनेक बार विषाद, दुःख और संकट भी आते हैं । इसलिए मनुष्य को धैर्य के साथ, साहस के साथ संकटों का सामना करना चाहिए ।

सेमुअल इस्माइल्स का यह विचार है कि “संसार में हमारे अधिकांश दुःखों का कारण हममें साहस और धैर्य का अभाव ही होता है । मनुष्य सच्चाई को जानता है; किन्तु उसके अनुसार वह काम नहीं करता, वह यह भी जानता है कि उसका कर्तव्य क्या है, किन्तु वह उसका पालन करने की दृढ़ता नहीं रखता । जो व्यक्ति दुर्बल और अनुशासन-हीन होता है वह प्रत्येक लोभ का शिकार बन जाता है । वह “नहीं” कहना नहीं जानता और हरेक के समक्ष समर्पण कर देता है । और यदि उसे कुसंगति मिली, तो वह कुमार्गी बन जायगा ।” * इसमें सन्देह नहीं कि हम बड़े-बड़े कार्यों के करने के लिए संकल्प करते हैं, योजनायें बनाते हैं, और उनकी समाप्ति तथा देश में चर्चा करते हैं, किन्तु साहस और उत्साह के अभाव में वे सब कोरे शब्द मात्र ही रह जाते हैं ।

समाज में अनेक सामाजिक, जातिगत एवं सामुदायिक बुराइयों के निवारण के लिए उत्साह की आवश्यकता होती है। महात्मा गांधी सदैव यह कहा करते थे कि “विदेशी शासन से मुक्ति पाने में कांग्रेस का प्रभाव बड़ा व्यापक है; किन्तु सामाजिक क्षेत्र में वह दुर्बल है।” वास्तव में सामाजिक सुधार के लिए साहस की आवश्यकता है।

साहस के आविर्भाव, उसकी अभिवृद्धि एवं विकास के लिए सतत प्रयत्न की आवश्यकता है। साहस दृढ़ इच्छा-शक्ति, आत्म-विश्वास और विवेक-बुद्धि से उत्पन्न होता है। इसलिए इन तत्वों की अभिवृद्धि के लिए सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए। किसी सत्मार्ग पर निरन्तर अग्रसर रहने की शक्ति का भी विकास करना चाहिए।

अध्याय ७

प्रसन्नता और पवित्रता

मानव-जीवन में प्रगति के लिए जितनी प्रतिभा की आवश्यकता है, उतनी ही स्वभाव-गत श्रेष्ठता की भी आवश्यकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जीवन में सुख-शान्ति प्राप्त करने में स्वभाव का विशेष प्रभाव होता है। वंशानुक्रम-विज्ञान (Heredity) के अनुसार मनुष्य के चरित्र के निर्माण में वंश और वातावरण का प्रभाव होता है। प्रत्येक व्यक्ति जन्म के साथ वंशगत गुण-अवगुणों को लेकर संसार में प्रवेश करता है; किन्तु जन्म के बाद व्यक्ति जिस वातावरण, पारिवारिक जीवन, सांस्कृतिक परम्परा, शिक्षा-दीक्षा द्वारा प्रभावित होता है, वैसा ही उसका स्वभाव बन जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के चरित्र के निर्माण में उसके वंश का जितना प्रभाव होता है, उससे कहीं अधिक वातावरण का होता है। कुछ विद्वानों का ऐसा विचार है कि कुलीन परिवारों के बालक बड़े मेधावी, बुद्धिमान और चतुर होते हैं और गरीब या निम्न श्रेणी के बालक उनके समान मेधावी और चतुर नहीं होते। किन्तु इस प्रकार के विचार का आधुनिक विज्ञान समर्थन नहीं करता। वास्तव में सत्य तो यह है कि गरीबी के कारण गरीब बालकों को वैसा वातावरण नहीं मिलता जैसा धनी परिवारों में मिलता है; उन्हें न पोष्टिक भोजन मिलता है, न अपने स्वास्थ्य के निर्माण के लिए समुचित साधन और न शिक्षा के सुयोग। यदि गरीब परिवारों के बालकों को शिशुकाल से ही

कुलीन या राज-परिवारों के बालकों के साथ शिशु-शाला में रखा जाय, उन्हें समान रूप से अपनी शक्तियों के विकास का अवसर मिले, तो आप देखेंगे कि गरीब परिवारों के बालक किसी प्रकार भी कुलीन परिवारों के बालकों से पीछे न रहेंगे।

“सन् १९३४ के मई मास में अमेरिका में ५ बहिनें एक साथ उत्पन्न हुईं। इन पांचों को लेकर वैज्ञानिक रीति से अत्यन्त सांख्यिकी के साथ परीक्षा की गई है, उनके परस्पर के व्यवहार के प्रति अत्यन्त ध्यान रखा गया है और उनके प्रत्येक आचरण का निरीक्षण किया गया है।

“उन पांच यमज लड़कियों में जो सबसे बड़ी थी वह सब बहनों के साथ बहुत ही प्रेम से मिलती जुलती थी। पढ़ने-लिखने में, बुद्धि-विवेचना में वह सबसे चतुर थी; किन्तु खेल-कूद के समय वह दूसरी बहनों को सबसे अधिक मौका देती थी। दूसरी बहन हर बात में अपने को आगे रखती थी। वह चाहती थी कि सब बहनें मेरी ओर ताकती रहें। तीसरी बहन भोली-भाली अपने में मस्त लड़की थी। उसे यह परवाह नहीं कि कौन खेल-कूद में आगे बढ़ आती है, और मुझे अधिक मौका मिलता है या नहीं। चौथी बहन के विषय में कुछ कहना कठिन था; क्योंकि वह अभी कुछ और कभी कुछ कहती थी। पांचवी बहन सबसे कमजोर एवं अपटु थी। हर बात में उसे सहायता की आवश्यकता थी। उसकी बड़ी बहन हर घड़ी उसकी सहायता के लिए उसके पास दौड़ी आती थी। जेनि* के हिसाब से इन

* गर्भ में स्त्री के अंडाणु का पुरुष के शुक्राणु से मेल होता है, तब भ्रूण-कोष का जन्म होता है। यही जीव का जन्म है। एक भ्रूण-कोष खंडित होकर दो कोषों में परिणत हो जाता है। इस प्रकार दो से चार और फिर सड़कों में कोष बन जाते हैं। प्रत्येक कोष में एक-एक केन्द्र-बिन्दु

पांचों 'लड़कियों' के शरीर में एक ही प्रकार के जेनि थे; किन्तु वास्तविक जगत में ये पांचों एक दूसरी से कितनी भिन्न थीं। इस दृष्टान्त से यह भी अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं है कि जेनि के आधार पर ही व्यक्तित्व के विकास का समस्त रहस्य उद्घाटित नहीं होता है"।‡

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानव के चरित्र या स्वभाव पर वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जीवन में सुख, शान्ति व आनन्द प्राप्त करने के लिए पवित्रता की बड़ी आवश्यकता है; पवित्रता वाह्य और अभ्यान्तर दोनों प्रकार की होनी चाहिए। मनुष्य को मन, वचन, और कर्म से पवित्र होना चाहिए। यदि मन में मलीनता है, तो वचन में भी मलीनता होगी और फिर कर्म में भी अशुभिता होगी। जब मनुष्य का मन निर्मल, वचन विमल और कर्म शुद्ध होते हैं, तभी वह पूर्ण अर्थ में पवित्र कहा जा सकता है; यदि आप केवल हिमवत श्वेत परिधान धारण कर लें, तो क्या बिना मानसिक शुचिता के आप पवित्र बन सकते हैं? मन की शुद्धि परम आवश्यक है। मन को सदैव सद्वचारों के चिन्तन में लगाये रखना चाहिए। आपका आत्मा सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रिय घोड़े हैं और यह शरीर रथ है। अतः यदि सारथी सचेत नहीं रहेगा और लगाम को काबू में नहीं रखेगा-मन को वश में नहीं रखेगा, तो घोड़े विषय-गामी होकर रथ को चकनाचूर कर देंगे।

होता है; यह सूत्र जैसे होते हैं। इनमें भी एक सूक्ष्म द्रव होता है, इसे जेनि कहते हैं।

‡ शचीन्द्रनाथ सान्बाल बंशानुकम-विज्ञान (सरस्वती सीरीज नं० ४२)

अतः मन को धिमल रखना चाहिए; किसी व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा, वैर भाव नहीं रखना चाहिए और न लोभ-मोह और प्रमाद वश किसी प्रकार का बुरा काम ही करना चाहिए। इन सबसे मन में मलीनता आजाती है। मन की मलीनता का शरीर पर प्रभाव पड़ता है। शरीर भी कान्ति हीन हो जाता है। मलीन विचार वाले व्यक्ति के मुख पर कान्ति और प्रसन्नता की झलक नहीं होती।

सच्ची प्रसन्नता, प्रफुल्लता की ज्योति मुख-मण्डल पर उसी समय जगमगाती है, जबकि मन में उच्च विचार हों, उसमें किसी प्रकार की मलीनता न हों; मन सदैव दूसरों के हित-साधन के लिए लालायित हो। परोपकारी, पर-हितकारी और उदारमना व्यक्ति के मन में एक अपूर्व प्रसन्नता होती है।

प्रसन्न-वदन व्यक्ति न केवल अपना ही हित साधन करता है। वरन् वह अपने आस-पास के व्यक्तियों के जीवन में एक नूतन आशा का संचार करता है। प्रसन्नता एक दैवी गुण है। यदि किसी व्यक्ति में यह गुण है तो वह कभी निराश नहीं हो सकता, वह कभी दुःखी नहीं हो सकता और न वह कभी पाप और कुकर्म ही कर सकता है।

यद्यपि इस प्रकार की प्रसन्नता वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त होती है, किन्तु व्यक्ति अपनी शिक्षा-दीक्षा और आत्मसंयम तथा अभ्यास द्वारा भी प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है। संसार में प्रत्येक वस्तु व घटना को देखने के दो प्रकार के दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण आशामय है, जिसके द्वारा व्यक्ति प्रत्येक वस्तु एवं घटना में, चाहे वह कितनी ही विषाद-पूर्ण क्यों न हो, प्रकाश, आशा, जीवन, और आनन्द का दर्शन करता है। दूसरा दृष्टिकोण निराशामय है, जिसके द्वारा वह प्रत्येक घटना और वस्तु में

नैराश्य, दुःख, खेद, पश्चात्ताप, और अशान्ति की भलक देखता है। हम निरन्तर अभ्यास द्वारा प्रत्येक दुःखप्रद घटना में आनन्द की भलक देख सकते हैं; श्याम मेघ-मण्डल के पीछे रजत-रेखा को देख सकते हैं।

सेमुअल स्माइल्स ने प्रसन्नता की शक्ति एवं प्रभाव के संबंध में यह सत्य ही लिखा है कि—“नयनों में प्रसन्नता की भलक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकाश, सौन्दर्य और हर्ष का विस्तार करती है; वह शीतलता में स्फूर्ति का संचार कर देती है; वह उत्पीड़न में सुखधारा का संचार कर देती है; वह अज्ञान में ज्ञान ज्योति जगा देती है; और शोक में हर्ष की सृष्टि करती है। नयनों में प्रसन्नता बुद्धि को चमत्कृत करती और सौन्दर्य को चमका देती है। उसके प्रभाव में जीवन की धूप का अनुभव नहीं होता, पुष्पों का विकास व्यर्थ होता है, भूतल तथा स्वर्ग के चमत्कार किसी को नहीं देख पड़ते और सृष्टि एक चेतनाहीन निर्जीव, रसहीन प्रतीत होती है।”

जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा धर्म-सुधारक मार्टिन लूथर ने निराश व्यक्तियों के लिए यह उपचार बतलाया “प्रसन्नता और उत्साह—निर्दोष प्रसन्नता और सम्माननीय उत्साह—नवयुवकों ही नहीं वरन् वृद्धों के लिए भी सबसे उत्तम औषधि है। निराशाजनक विचारों को दूर करने के लिए यह सब मनुष्यों के लिए रामबाण है।”*

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे सभी अनेकों कष्ट और भावनाओं से पीड़ित रहने पर भी सदैव प्रसन्न रहते थे।

हमारे देश के सबसे महान नेता और विश्व के सर्वश्रेष्ठ मानव महात्मा मौंधी राष्ट्र के विविध कार्यों व प्रवृत्तियों में संलग्न रहने पर भी सदैव प्रसन्न रहते थे और बड़े ज़ोर के साथ कहकहे लगा कर हँसते थे। वह बड़े-बड़े नेताओं के साथ भी हास-परिहास में बड़ा आनन्द लेते थे।

सच्ची प्रसन्नता मन की विमलता, हृदय की पवित्रता, प्रेम, आशा व सन्तोष से उत्पन्न होती है। यों तो दुष्ट तथा खल जन भी अपने मुख पर हँसी की झलक दिखलाते हैं, किन्तु वह सच्ची प्रसन्नता नहीं होती। सच्ची प्रसन्नता से जहाँ अपने चित्त को हर्ष होता है, वहाँ वह दूसरे व्यक्तियों में आशा, सुख एवं आनन्द की सृष्टि करता है। उससे उत्तम विचारों का जन्म होता है। इस प्रकार प्रसन्नता मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए अमूल्य पौष्टिक औषधि है।

बैथम ने कहा—“स्नेह-पूर्ण तथा मधुर शब्दों का मूल्य अप्रिय एवं कटु शब्दों से कोई अधिक नहीं होता। मधुर तथा प्रिय शब्द मधुर तथा प्रिय व्यापारों को जन्म देते हैं; इससे शब्द प्रयोग-कर्त्ता और जिनके प्रति वे कहे जाते हैं, दोनों लिये सुखप्रद होते हैं।……………ऐसा हो सकता है कि उपकार के प्रयत्न से उनका हित न हो जिनके लिये किया गया है; किन्तु बुद्धिमानी के साथ किया गया परोपकार का प्रयत्न, उस व्यक्ति को लाभ पहुँचाता है, जो उसे करता है। श्रेष्ठ तथा मित्रता-पूर्ण व्यवहार का प्रतिफल कृतघ्नता हो सकता है; किन्तु जिस व्यक्ति के प्रति उपकार किया गया है, उसकी कृतघ्नता से उस आत्म-सन्तोष का नाश तो नहीं हो सकता जो परोपकारी को मिलता है और हम बिना कुछ स्वर्च किये अपने चारों ओर

दयालुता और उदारता के बीज बो देते हैं। इनमें से कुछ तो उर्वरा भूमि पर गिरेंगे और वे दूसरों में परोपकार के पौधे उगा सकेंगे। और बसन्त के आगमन पर वे सभी हृदय-प्रदेश में आनन्द के फल उत्पन्न करेंगे।” *

अध्याय ८

शिष्टाचार और विनयशीलता

मनुष्य में प्रतिभा हो, साहस हो, कर्म-परायणता हो और अन्य मानवीय गुण भी विद्यमान हों, किन्तु यदि उसमें शिष्टाचार और विनयशीलता नहीं हो, तो वह अपने जीवन में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इन दो सद्गुणों के अभाव में अन्य गुण भी उसके लिए अधिक उपयोगी एवं हितप्रद सिद्ध नहीं हो सकते। जिस व्यक्ति में शिष्टाचार नहीं, जिसमें विनयशीलता नहीं, वह दूसरों के साथ सहानुभूति, दया और स्नेह का व्यवहार नहीं कर सकता। वास्तव में मनुष्य के चरित्र की परख उसके उस व्यवहार से और वार्त्तालाप से तथा कार्य-कलाप से की जाती है, जिसे वह दूसरों के साथ या दूसरों के लिए करता है। प्रसिद्ध विचारक इमर्सन ने यह कहा है—“सुन्दर आचरण सुन्दर रूप से श्रेष्ठतम है; वह चित्रों व मूर्तियों की अपेक्षा अधिक आनन्द देता है; वह सब ललित कलाओं में सर्वोपरि है—सर्वश्रेष्ठ है।” सेमुअल स्माइल्स ने यह कहा है कि—“उदारतापूर्ण तथा हार्दिक व्यवहार सफलता में सबसे अधिक सहायक होता है और संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत-से मिलेंगे जो उसके अभाव में असफल रहते हैं।”

व्यक्ति के शिष्टाचार और विनय का समाज पर प्रभाव पड़ता है। समाज उसकी परख इन दोनों गुणों के द्वारा करता है। किसी व्यक्ति के मन पर मनुष्य के आचरण का जो प्रथम प्रभाव पड़ जाता है, वह दीर्घ-काल तक बर्ता रहता है

और उसका उसके प्रति दृष्टिकोण उस प्रभाव के अनुसार ही बन जाता है ।

बालकों को अपने माता-पिता, अभिभावकों, तथा आचार्यों के साथ अत्यन्त विनय का व्यवहार करना चाहिए । इससे उनमें अनेक सद्गुणों का विकास होगा; वे अपने माता-पिता व आचार्यों व अध्यापकों के स्नेह-भाजन बनेंगे ।

एक विद्यार्थी को अपने सहपाठी, अपने पड़ोसी और अपने नगर-वासी के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ? उसे अपने अध्यापकों, आचार्यों व शिक्षकों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ? उसे अपने परिवार के छोटे बालकों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ? उसे अपनी माता तथा बहनों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ? इन सब प्रश्नों का उत्तर एक शब्द में है—विनयशीलता का व्यवहार । शिष्टाचार में विनय और उदारता का समावेश हो जाता है और जिस व्यवहार में इन दो का अभाव हो वह बाहर से देखने पर फितना ही सुन्दर आचरण देख पड़े किन्तु उसमें हार्दिक भावना नहीं होती । इसलिए वह कृत्रिम 'शिष्टाचार' का ही पालन समझा जायगा ।

आज कल की सभ्यता के अनुसार शिष्टाचार के अनेक ऐसे नियम हैं, जिन्हें हम अंग्रेजी भाषा में Etiquette कहते हैं । इस विषय पर अंग्रेजी में बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गए हैं । किसी के गृह पर जाने के समय किस प्रकार के वस्त्रादि धारण किए जायँ, रात्रि या दिन में कैसा हैट लगाया जाय, भोज के समय कैसे वस्त्र पहने जायँ, आमोद-गृह (Club) में किस प्रकार की वेषभूषा धारण की जाय और नृत्य-गृह में किस प्रकार का आचरण किया जाय; राज्याधिकारियों से भेंट करते समय कैसा शिष्टाचार हो और राजा-महाराजा अथवा नवाब से भेंट

करते समय किस प्रकार दण्डवत् या नमस्कार किया जाय, आदि अनेकों प्रकार के नियम प्रचलित हैं। किन्तु ये सब नियम-निष्ठा (Formality) ही है। इन नियमों तथा इस कृत्रिम शिष्टाचार के पीछे कोई हार्दिक सचाई, सद्भावना एवं हृदय की विशालता नहीं होती।

शिष्टाचार का एक सुवर्ण नियम यह है कि “दूसरे व्यक्तियों से जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही व्यवहार तुम उनके साथ भी करो; क्यों कि कानून और धर्म दोनों की यही आज्ञा है।”* हमारी धर्म पुस्तकों में भी इसी प्रकार का आदेश है—

“आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।”

इसी बात को चीन के महान् धर्माचार्य कन्फ्यूशियस ने इन शब्दों में कहा था—“दूसरों के साथ वह काम न करो जिसे तुम नहीं चाहते कि दूसरे तुम्हारे साथ करें।”

यह कितना सरल, सर्व-हितकारी और प्रत्यक्ष नियम है। यदि संसार के मनुष्य तथा राष्ट्र इस नियम का पालन करने लगें, तो न संसार में कोई भयंकर अन्तर्राष्ट्रीय विवाद हो और न परस्पर एक राष्ट्र के नागरिकों में ही संघर्ष तथा विवाद हों।

- यदि हम यह चाहते हैं कि दूसरे व्यक्ति हमारा सम्मान करें, हम जो बात कहें उसे आदर तथा शान्ति के साथ सुनें, दूसरे व्यक्ति हमारे साथ स्नेह का व्यवहार करें, दूसरे व्यक्ति हमारे दुःख में हमसे सहानुभूति रखें, दूसरे व्यक्ति हमें हमारे कार्यों में सहायता दें; तो हमारा भी यह कर्तव्य है कि हम दूसरों का

* “Therefore all things whatever ye would that men should do to you, do ye even so to them; for this is the law and the Prophets.”—Holy Bible—St. Matthew, 7—12.

सम्मान कर, दूसरों की बातें शान्ति के साथ सुनें, उनके साथ स्नेह का व्यवहार करें और उनसे सहानुभूति रखें तथा उनके कार्यों में सहायता दें।

अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक डेल कारनेगी ने अपनी एक पुस्तक में दूसरे व्यक्तियों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए छः उपाय इस प्रकार बतलाए हैं:—

(१) दूसरे व्यक्तियों में सच्चाई के साथ दिलचस्पी रखो।

(२) सदैव प्रसन्न रहो।

(३) यह स्मरण रखो कि मनुष्य के लिए अपना नाम सबसे प्रिय है, मधुर है; इसलिए उनके नामों को महत्व दो।

(४) दूसरों की बातें बड़े ध्यान से सुनो; दूसरों को अपने विषय में बातें करने के लिए प्रोत्साहन दो।

(५) जब वार्त्तालाप करो, तब दूसरे व्यक्तियों के हित का ध्यान रखो।

(६) दूसरे व्यक्तियों को अपना महत्व अनुभव करने का अवसर दो और यह कार्य हृदय से करो।”*

विनय और शिष्टाचार का जैसा उच्च आदर्श हमें रामायण में पद-पद पर मिलता है, वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में दुर्लभ है। राजा रामचन्द्र को बन-वास की आज्ञा मिल जाती है; वह पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर गृह-त्याग करने से पूर्व अपने कुलगुरु, माता, भाई, राजमंत्री, राजकर्मचारी गण तथा अयोध्या

*Dale Carnegie:—How to Win Friends and Influence People (Indian Edition) 1940 p. 133-

के समस्त उपस्थित नर-नारियों से बड़े शिष्टाचार के साथ विदाई लेते हैं। समस्त नारियों को संबोधन करके वह कहते हैं:-

“मेरे पिता के प्रति सदैव भलाई करना। और जब तक मैं प्रवास में रहूँ मेरी माता को सान्त्वना देना।”

वह गुरु के चरणों को छूकर अयोध्या त्याग देते हैं। आज के युग में ऐसे कितने राजा-महाराजा हैं, जो अपने गुरु, आचार्य, और प्रजा के प्रति इतना प्रेम रखते हों ?

अध्याय ६

ज्ञान

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृत गमयेति ॥

—वृहदारण्यकोपनिषद् १-३-२८

“मुझे असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर करो।”

वृहदारण्यकोपनिषद् का वचन है कि “अंधकार से प्रकाश में प्रवेश करो।” हमारे धर्म ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, गीता आदि में ज्ञान-विज्ञान के उपदेश भरे पड़े हैं। इस प्रकार वेद का आदेश है कि मनुष्य मात्र ज्ञान प्राप्त करे, क्योंकि ज्ञान-शून्य मनुष्य पशु के समान है। मनुष्य और पशु में यही अन्तर है कि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान के विकास द्वारा इस संसार में सब प्रकार के सुख और आनन्द भोग सकता है और इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कर्म करता हुआ वह अपने भाग्य का भी निर्माता है। किन्तु पशु केवल भोग करते हैं, वे भोग योनि में हैं। वे कोई ऐसे कर्म नहीं कर सकते जिनसे उनके भविष्य का निर्माण हो।

मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, यह भली भाँति योगिराज श्री कृष्ण ने गीता में बतलाया है।

“मनुष्य को स्वयं अपने ही प्रयत्न द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए। अपने आप अपना पतन न करे। क्यों कि वह स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही अपना शत्रु है।

जिसने अपने पर विजय प्राप्त करली है, वह आप ही अपना मित्र है और जिसने अपने आपको नहीं जीता, वही अपना शत्रु भी है ।” ❀

ज्ञान या विद्या दो प्रकार की मानी गई हैं—परा और अपरा । ईश्वर, आत्मा और प्रकृति के ज्ञान को ब्रह्म-विद्या माना गया है और इनके अतिरिक्त अन्य सांसारिक ज्ञान को लौकिक ज्ञान माना गया है । संसार में मानव-जीवन की सफलता के लिए इन दोनों प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है ।

ज्ञान का क्षेत्र बड़ा व्यापक है—उसकी कोई सीमा नहीं । इसी कारण कोई भी मनुष्य अपने को पूर्ण ज्ञानी नहीं कह सकता । संसार में विविध प्रकार के इतने ज्ञान-विज्ञान, उसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं कि यदि एक मनुष्य दस जन्म धारण करके भी उनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो यह संभव नहीं ।

अध्यात्म-विद्या, मनोविज्ञान, दर्शन, नीति-शास्त्र, इतिहास, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, भूगोल, भूमिति, भौतिक-विज्ञान, रसायन, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, मानव-विज्ञान, जाति-विज्ञान, वंश-विज्ञान, चिकित्सा, स्वास्थ्य-विज्ञान, ज्योतिष, खगोल, खनिज-विज्ञान, जलवायु-विज्ञान, समाज-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, साहित्य, कला इत्यादि अनेक प्रकार की ज्ञान-विज्ञान की शाखाएँ हैं ।

* उद्धारेदात्मना ऽ ऽ त्मानं नात्सानमव सादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मा ऽ ऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥ अध्याय ७ ॥ गीता

व्यक्तिगत उन्नति, एवं समाज-हित कल्याण के लिए ज्ञान-विज्ञान का प्राप्त करना परम आवश्यक है। मनुष्य का जीवन अल्प है और ज्ञान असीम है। इसलिए इस अल्प जीवन ही में मनुष्य को आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

वर्तमान समय में ऐसे व्यक्ति थिरले ही मिलेंगे, जो केवल ज्ञानार्जन के लिए ही ज्ञान की प्राप्ति करते हैं। इस युग में तो ज्ञान की प्राप्ति जीवकोपार्जन में एक प्रमुख सहायक के रूप में की जाती है। इसलिए जो व्यक्ति जिस प्रकार से अपनी आजीविका प्राप्त करना चाहता है, वह अपने लिए उसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

सत्य ज्ञान और अन्ध-विश्वास

विज्ञान हमें सत्य ज्ञान की ओर ले जाता है, वह हममें विश्लेषण की प्रवृत्ति पैदा करता है जिसके द्वारा हम विचार, मनन तथा तर्कना (Reasoning) एवं विश्लेषण द्वारा सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। विज्ञान हमें अन्तिम सत्य की ओर नहीं ले जाता। क्योंकि वह प्रयोगात्मक आधार पर स्थिर है। आज जिसे विज्ञान सत्य कहता है, उसे ही कल का आविष्कार असत्य प्रामाणित कर देता। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान निरन्तर सत्य की खोज में अग्रसर रहता है।

ज्ञान सत्य होता है और असत्य भी। इसलिए मनुष्य को अपनी बुद्धि और तर्क-शास्त्र (Logic) के द्वारा सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए और इस प्रकार जो सत्य की प्राप्ति हो, उसी पर आरुढ़ रहना उचित है।

किन्तु हम यह देखते हैं कि हमारे देश में ६० प्रतिशत व्यक्तियों के निरक्षर होने तथा जो साक्षर हैं, शिक्षित हैं, उनमें भी सत्य ज्ञान का प्रकाश न होने के कारण अनेक प्रकार के असत्य विश्वास एवं अंध-विश्वास प्रचलित हैं। इन अंध-विश्वासों के कारण ही हम में वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव है और न हम अपनी समस्याओं पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार ही करते हैं।

इन अंध-विश्वासों का कारण मुख्यतः धार्मिकता और धार्मिक विश्वास ही हैं। इस संबंध में श्री गंगा प्रसाद उपाध्याय ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है :—

“सत्य ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान दोनों ही विश्वासों को जन्म देते हैं। हम उस बात में विश्वास करते हैं, जिसे सत्य जानते हैं। कोई भी व्यक्ति जानबूझ कर मिथ्या ज्ञान पसंद नहीं करता। किन्तु हमें केवल सत्य ज्ञान ही नहीं होता, वरन् ऐसे भी अनेकों कारण हैं जो गलत ज्ञान की ओर अग्रसर करते हैं और कभी-कभी हम स्वयं भी यह अनुभव करते हैं कि हमारा ज्ञान गलत था।

“इस प्रकार का मिथ्या ज्ञान ही अंध-विश्वास (Superstition) है। अंध-विश्वास शत प्रतिशत असत्य नहीं होता और न वह शत प्रतिशत सत्य होता है। सत्य बीज ही उसकी नींव होती है और इस पर एक विशाल भवन खड़ा कर दिया जाता है।

“मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य है सत्य की प्राप्ति—विशुद्ध सत्य की प्राप्ति। मानव-जीवन के सभी विभागों का यही उद्देश्य है। समस्त विज्ञानों, कलाओं, दर्शनों व धर्मों का एकमात्र लक्ष्य सत्य की सिद्धि है।

“किन्तु मनुष्य की शक्तियाँ अल्प हैं। वह जानने की आकांक्षा करता है। वह इसके लिए चेष्टा भी करता है। किन्तु वह शीघ्र ही थक जाता है। कुछ काल के बाद उसकी इच्छा मन्द पड़ जाती है। वह फिर आगे प्रयत्न नहीं करता। वह इस पर सन्तोष मान लेता है कि “इतने से ही काम चल जायगा।” इस समय अवसर पाकर असत्य उसके मन में प्रवेश कर जाता है। वह चोर की तरह घुस कर उसके मन पर अधिकार जमा लेता है। कालान्तर में वह सत्य से नाता तोड़ कर असत्य का सेवक बन जाता है। यह बात नहीं कि वह सत्य से प्रेम नहीं करता। ऐसा तो हो नहीं सकता। सत्य-प्रेम प्रत्येक मानव की प्रवृत्ति में निहित है। किन्तु यहाँ असत्य सत्य का रूप धारण कर लेता है, और वह उनमें भेद नहीं कर सकता। यही अंध-विश्वास की उत्पत्ति है। अंध-विश्वास में सत्य-असत्य का मिश्रण होता है, किन्तु प्राधान्य असत्य का ही होता है।

“हम यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के लिए पूर्ण सत्य का ज्ञान कठिन है। सबसे बुद्धिमान व्यक्ति तो वही है जो यह जानता है कि वह कुछ भी नहीं जानता। किन्तु अत्यन्त अज्ञान भी ऐसा मान सकता है। बुद्धिमानों इस बात में नहीं है कि कोई जानता ही नहीं है किन्तु इसमें है कि वह यथासंभव इस ज्ञानाभाव की पूर्ति भी करने में प्रयत्नवान् है। इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति अपने अज्ञान या अपनी अपूर्णता को जानता है और उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। किन्तु मूर्ख व्यक्ति न तो अपनी अज्ञानता को जानता ही है और न उसे दूर करने का प्रयत्न ही करता है। उसका मानस सरिता के समान नहीं होता जिसमें तरंगे पड़ती हैं; वरन् एक सरोवर के समान है। ऐसे ही मानस में अन्ध-विश्वास जन्म लेते हैं।.....इसलिए

यह आवश्यक है कि उन सभी संस्थाओं को—जो सत्य की शोध करती हैं—जैसे स्कूल, कालेज, विश्व-विद्यालय तथा विज्ञान शालाएँ—ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि असत्य और अंध-विश्वास मनुष्यों के मस्तिष्क पर अपना प्रभाव न जमाने पावें।”*

अंध-विश्वास मधुर विष है; वह विष इसलिए है कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति को मार देता है; और मधुर इसलिए है कि उसका स्वाद सुरुचि-पूर्ण होता है। अन्ध-विश्वास की जननी आश्चर्य और परिचारिका छलना है।

अन्ध-विश्वासों, चमत्कारों, जादू, तथा आश्चर्य-प्रद वस्तुओं के मूल में अज्ञान ही काम करता है। जादू के कार्यों में हमें तभी तक आश्चर्य लगता है, जब तक उनकी चाल को हम नहीं समझ लेते। बाजीगर किस प्रकार धूल मुट्टी में डालकर चांदी का रुपया बना देता है। किन्तु यह केवल चालाकी है। वन में रहने वाले रेल, वायुयान, और विद्युत को देखकर बड़े भयभीत होते हैं; और अपनी रक्षा के लिए देवी से प्रार्थना करने लगते हैं। किन्तु रेलवे मजदूर या बिजलीघर का मिस्त्री और वायुयान की यंत्रकला को जानने वाले इसमें कोई चमत्कार नहीं देखते।

इस प्रकार चमत्कारों, भूत-प्रेतों, अध्यात्मवाद, सम्मोहन-क्रिया, ज्योतिष, हस्त-रेखा-विज्ञान, जादू, रसायन, स्वप्नों तथा शकुनों के नाम पर हमारे समाज में अनेक मिथ्या विचार और अन्ध-विश्वास प्रचलित हैं।

हमारे देश में अज्ञान तो इस सीमा तक पहुँच गया है कि लोग मील के पत्थरों (Milestones) की भी पूजा करते देखे

गए हैं। देवी-देवता शब्दों का अनर्थ कर वे पत्थरों के टुकड़ों की पूजा करते देख पड़ते हैं। जल, वायु, अग्नि, वरुण आदि देवता हैं; क्योंकि इनके द्वारा हमें जीवन-दान मिलता है। जो देता है, वही देवता है। इस प्रकार जो अध्यापक, शिक्षक, पत्रकार, सम्पादक और आचार्य हमें ज्ञान देते हैं, वे भी देवता हैं। उनका यथोचित सत्कार कर हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। किन्तु ऐसा न कर अज्ञान-वश लोग न जाने किस-किस की पूजा करते हैं और यहाँ तक कि पशु-बलि भी देते हैं। मनुष्य की मृत्यु के बाद जो मृत शरीर रह जाता है उसे ही भूत कहते हैं। किन्तु लोग 'भूत' 'प्रेत' नाम की एक योनि की कल्पना कर बैठते हैं और बालकों के रोने-धोने पर उन्हें 'भूतों' का भय दिखला देते हैं। यह नितान्त अज्ञान और मूर्खता है।

इस प्रकार प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अन्धकार (अज्ञान, अन्ध विश्वास) को मिटा कर उसकी जगह प्रकाश (ज्ञान का) करे और इस प्रकार संसार में सुख भोगता हुआ मानव-समाज का भी कल्याण करे। ज्ञान का यही प्रयोजन है और उसका यही लक्ष्य भी है।

अध्याय १०

परिवार

संसार के प्रत्येक देश में, यहाँ तक कि साम्यवादी सोवियट रूस में भी परिवार का बड़ा महत्व है। परिवार ही समाज का, देश का, राष्ट्र का और मानवता का आधार है। परिवार की उत्पत्ति विवाह-संस्था से हुई है। अतः परिवार विवाह की नींव पर टिका हुआ है।

परिवार, वास्तव में, हमारी व्यक्तिगत एवं सामाजिक उन्नति एवं कल्याण का साधन है। परिवार में ही मनुष्य के जीवन का विकास होता है और वह उसकी प्राथमिक शिक्षा-शाला है। परिवार में वह जितने गुण-अवगुण अपने माता-पिता, भाई-बहनों आदि से सीखता है वे आजन्म उस पर अपना प्रभाव डाल देते हैं। श्रेष्ठ और सदाचारी माता अपने बालक-बालिकाओं तो आरम्भ से ही अच्छी-आदतें सिखाती हैं; और असभ्य माताएँ आरम्भ से ही मिथ्या लाड़-प्यार में अपनी सन्तान को बिगाड़ देती हैं।

परिवार का अर्थ केवल यही नहीं है कि उसमें केवल पति-पत्नी और उनकी सन्तान ही सम्मिलित हों। परिवार की यह संकुचित भाषा पाश्चात्य देशों में ही संभव है, जहाँ पुत्र का विवाह हो जाने पर वह माता-पिता से प्रथक रहने लगता है और इस प्रकार अपना प्रथक छोटा-सा परिवार बना लेता है।

हमारे देश में प्राचीन काल से संयुक्त परिवार (Joint family) की प्रथा प्रचलित है और वह आज भी भारत के ग्रामों में तथा अनेक नगरों में प्रचलित है। इस प्रकार भारतीय परिवार में पति-पत्नी और उनकी सन्तान के अतिरिक्त पति के माता, पिता, भाई, बहिन, चाचा, चाची, पौत्र, प्रपौत्र आदि सम्मिलित होते हैं। यही नहीं, गृह में सेवा करने वाले नौकर-चाकर भी परिवार के ही अंग समझे जाते हैं। इनके अतिरिक्त गृह में जो पशु-पक्षी रहते हैं, जैसे कोयल, मैना, बुलबुल, तोता चिड़िया आदि वे भी परिवार के ही सदस्य हो जाते हैं; क्यों कि परिवार के सदस्य उनके दाने-पानी तथा उनकी रक्षा का ध्यान रखते हैं। गृह में गाय, भेंस, बकरी आदि जो पशु रखे जाते हैं, उनके प्रति भी परिवार का प्रेम होता।

इस प्रकार परिवार में हम सबसे पूर्व मानवता और विश्व-बन्धुत्व का सच्चा पाठ सीखते हैं। यही नहीं हम प्राणी मात्र से स्नेह करना भी परिवार में ही सीखते हैं।

संसार में मातृ-प्रेम की तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती। माता का प्रेम पाकर बालक में कितने सुन्दर गुणों का विकास होता है और मातृ-हीन बालक की शक्तियाँ कितनी अविकसित रह जाती हैं, यह आप किसी विदुषी महिला की सन्तान और किसी अनाथ बालक को देख कर भली भाँति जान सकते हैं। माता का अपने बालक पर बड़ा प्रेम होता है। और प्रेम संसार में सबसे महान् शक्ति है। माता यदि चतुर है तो वह अपने प्रेम द्वारा बालक को सुशील, सदाचारी और वीर तथा साहसी बना सकती है। यदि वह मूर्ख हुई तो अपने 'लाड़-प्यार' से अपनी सन्तान को दुराचारी, दुष्ट, चोर, बेईमान और व्यभिचारी बना देगी। इस प्रकार व्यक्ति के चरित्र का निर्माण बहुतांश में चतुर माता पर ही निर्भर होता है।

बालक गृह में परस्पर प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, दया, उदारता, उद्योग, मैत्री, आदि सद्गुणों का विकास कर सकता है। वह परस्पर भाई-बहनों के साथ अपने व्यवहार द्वारा इन गुणों की व्यवहारिक शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

परिवार एक प्रकार की सहकारी-समिति (Cooperative Society) है, जिसमें उसके सभी सदस्य मिलकर परिवार के कल्याण के लिए प्रयत्न करते हैं। संयुक्त परिवार में सभी काम करने वाले सदस्य मिलकर व्यवसाय व उद्योग करते हैं, और इस प्रकार जो धन कमाते हैं, उसे गृह के सामान्य कोष में रखते हैं। इस प्रकार संयुक्त प्रणाली के कारण गृह का व्यय भी कम होता है और गृह में जो लोग काम करने के योग्य नहीं होते उनका पालन-पोषण भी हो जाता है। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से भी परिवार एक बड़ी उपयोगी संस्था है।

प्रायः यह देखने में आता है कि संयुक्त परिवार की प्रथा का कुछ आलसी व्यक्ति दुरुपयोग करते हैं, वे परिवार के कोष में कोई योगदान नहीं देते, किन्तु उससे लाभ की आशा रखते हैं। इसी कारण तथा वर्तमान् काल में औद्योगीकरण के प्रभाव से संयुक्त कुटुम्ब प्रथा का नाश होता जा रहा है।

विद्या-सागर बंगदेश के एक बड़े नेता हो गए हैं। उनके मातृ-प्रेम की निम्न लिखित कथा आपके लिए बड़ी मनोरंजक सिद्ध होगी।

विद्यासागर फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता में कार्य करते थे। उन्हें घर से उनके भ्राता के विवाह का समाचार मिला। उनकी माता का यह विशेष आग्रह था कि वह विवाह में अवश्य सम्मिलित हों। वह कालेज के आचार्य के पास गए

और छुट्टी मांगी । परन्तु छुट्टी नहीं मिली । उनके मित्र विवाह में सम्मिलित होने चल दिए और वे अकेले रह गए । दूसरे दिन वे प्रिंसिपल के पास गए और कहने लगे :—

“यदि मुझे छुट्टी नहीं मिली, तो मैं अपने पद से त्याग-पत्र दे दूंगा; क्योंकि मैं यह सहन नहीं कर सकता कि मेरी मा को दुःख हो।”

आचार्य के हृदय को इससे क्षोभ हुआ और विद्यासागर को छुट्टी दे दी गई । दिन के तीन बजे विद्यासागर और उनके साथी श्रीराम अपने घर को चल दिए । जुलाई का महीना था । वर्षा बड़ी मूसलाधार थी । आकाश में बिजली की चमचमाहट हो रही थी । वीरसिंह उनका ग्राम था । उससे २६ मील की दूरी पर कृष्णरामपुर में रात में वे ठहर गए । श्रीराम भूख से व्याकुल थे, उनके पैरों में दर्द था । विद्यासागर ने उन्हें अपने घर जाने दिया । अपनी मा का विचार कर विद्यासागर दामोदर नदी की ओर चल पड़े । नदी में पानी खूब भरा था । नौका और केवट उस पार थे । इस ओर कोई भी नौका नहीं थी । विद्यासागर नदी में तैर कर उस पार बड़ी कठिनाई से पहुँचे । गोधूलि की बेला-थी । मार्ग में चोर-लुटेरों का बड़ा भय था । रात में ६ बजे वह अपने घर पहुँचे । बरात खाना हो चुकी थी । विद्यासागर ने घर में प्रवेश कर आवाज लगाई—“माता जी !” माता ने स्वर को पहचान लिया और वह बाहर आ गई । अपने लाड़ले पुत्र को प्यार किया और दोनों ने बैठ कर भोजन किया !*

अध्याय ११

सहानुभूति

सहानुभूति व्यक्ति का सबसे महान सामाजिक गुण है। सहानुभूति के अभाव में न व्यक्ति में परोपकार की वृत्ति और न दानशीलता का ही आविर्भाव हो सकता है और न वह समाज-सेवा ही कर सकता है। प्रत्येक सामाजिक कार्य को जो प्रेरणा मिलती है, उसमें सहानुभूति का सबसे अधिक प्रभाव होता है। सहानुभूति ही प्रेम की जननी है। जब तक दो व्यक्तियों में परस्पर सहानुभूति का उदय नहीं होगा तब तक उनमें प्रेमोदय भी नहीं हो सकता।

इस प्रकार सहानुभूति का भाव हमारे व्यक्तिगत उत्थान और सामाजिक कल्याण का आधार है। इसके बिना न पति-पत्नी में प्रेम हो सकता है और न माता तथा पुत्र में। हम न इसके अभाव में समाज में सहयोग का प्रादुर्भाव कर सकते हैं और न पीड़ितों की सहायता। परोपकार अथवा परमार्थ भी सहानुभूति के अभाव में संभव नहीं।

सहानुभूति का शाब्दिक अर्थ है किसी व्यक्ति में, उसके हृदय में दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति, उनके दुःख में खेद तथा सुख में हर्ष का भावोदय होना।

बाढ़-पीड़ितों, रोग से दुःखी जनों, गरीबी के कारण जुधा-पीड़ितों, लम्पट, दुष्ट और अत्याचारी पति द्वारा पीड़ित दीन नारी को देख कर किस मानव के हृदय में सहानुभूति

का उदय नहीं होगा। सहानुभूति न शक्ति की अपेक्षा रखती है और न धन-बल की। आपकी जेब में एक पैसा भी नहीं है आपमें शारीरिक बल भी पर्याप्त नहीं है, किन्तु आपमें यदि मानव का हृदय है, तो आप ऐसे पीड़ित नर-नारियों की सहायता के लिए अपने शरीर से ही सेवा-कार्य करेंगे।

जब किसी नगर में महामारी, विषूचिका अथवा किसी अन्य संक्रामक रोग का प्रकोप हो जाता है और उसके कारण समूचे नगर के निवासियों का स्वास्थ्य संकट में पड़ जाता है, तब नगर के प्रतिष्ठित नागरिक, डाक्टर, अध्यापक, वकील और विद्यार्थी 'सेवा-समिति' का संघटन कर रोगियों की सेवा करते हैं। जब किसी नगर में अतिवृष्टि के कारण बाढ़ आ जाती है, तब नगर व प्रान्त के नागरिक बाढ़-पीड़ित, मनुष्यों तथा पशुओं की रक्षा करते हैं, उनके भोजन, वस्त्र आदि का प्रबन्ध करते हैं। समाज में जो वर्ग आर्थिक व शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े व दलित हैं, उनके उत्थान के लिए प्रयत्न करना सच्ची सेवा है। इस प्रकार समाज-सेवा के कार्य भी बिना सच्ची सहानुभूति के नहीं हो सकते।

जब लार्ड मोंटबेटेन 'की भारत विभाजन की योजना के अनुसार १५ अगस्त १९४७ को भारत का विभाजन हो गया और भारतीय संघ तथा पाकिस्तान राज्य नाम के दो स्वाधीन राज्य स्थापित हो गए तब पंजाब के विभाजन के प्रश्न को लेकर पंजाब, सीमाप्रान्त और सिंध में जो भयानक भूकम्प— साम्प्रदायिक भूकम्प उत्पन्न हुआ, उसके कारण मानवता की जड़े हिल गईं। पंजाब में लाखों बाल-वृद्ध-युवक बे-मौत मारे गए; लाखों ही बेघरवार हो गये और सहस्रों स्त्रियां, कुमारिकाएं और बालक दुष्टों द्वारा अपहृत किए गए। भारत-सरकार

तथा प्रान्तीय सरकारों के अथक प्रयत्नों से लाखों व्यक्तियों के प्राणों की रक्षा हुई। देश-भर में शरणार्थी शिविर खोले गए और उनके भोजन, वसन, आश्रय व रोजगार का प्रबन्ध किया गया। जिन व्यक्तियों ने इनकी सहायता के लिए जो कार्य किया है, वह वास्तव में महान परोपकार है। मानवता की परीक्षा ऐसे ही महान संकट के समय होती है।

हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम ऐसे अवसरों पर पीड़ितों की सेवा करें, जो सताए हुए हैं उन्हें सान्त्वना दें और जिन पर अत्याचार हो रहे हैं, उनकी रक्षा करें।

सहानुभूति और परोपकार किसी धर्म, रक्त, वंश, जाति या सम्प्रदाय का भेद नहीं मानता। पञ्जाब के उपद्रवों के समय हमें जहाँ बर्बरता का ताण्डव देखने को मिला, वहाँ हमें सच्ची मानवता के भी दर्शन मिले। अनेक स्थानों पर मुसलमानों ने हिन्दू स्त्रियों तथा बालिकाओं की रक्षा की; अनेक स्थानों में सिक्खों व हिन्दुओं ने अपने गुरुद्वारों व मन्दिरों में मुस्लिम महिलाओं की रक्षा की।

सहानुभूति की एक बड़ी हृदय-स्पर्शी कहानी सुनिए। चीन की जनता ने कहा—“हमारे सम्राट बड़े न्यायप्रिय हैं; क्यों कि वह गरीबों की पुकार सुनने के लिए सदैव तैयार रहते हैं।”

किन्तु एक दिन ऐसा आया जबकि उनके कान बहरे हो गए उन्हें अब किसी का कोई शब्द सुनाई नहीं पड़ता था।

सम्राट अपनी इस अवस्था को देख रो-पड़े; उनके मंत्री और सलाहकार उनको संकेतों से या कागज पर लिख कर अपना मन्तव्य बतलाते थे और उनसे यह प्रार्थना करते थे कि वे दुःखी न हों।

सम्राट ने उनसे कहा—“आप लोग यह न समझें कि मैं अपने लिए दुःखी हूँ; मुझे अपने बहरेपन का दुःख नहीं है किन्तु मुझे दुःख इस बात का है कि मैं दीन-दुःखी प्रजा की पुकार नहीं सुन सकूँगा।”

इस पर सब मौन हो गए। कोई भी यह नहीं सोच सका कि सम्राट को किस प्रकार सन्तवना दी जाय।

सम्राट ने स्वयं ही युक्ति सोची और कहने लगे—“मैंने एक युक्ति सोची है। समस्त प्रजा को यह आज्ञा दे दी जाय कि वे केवल संकट के समय ही लाल रंग के वस्त्र पहनें। जब कभी मैं किसी स्त्री-पुरुष को इस रंग के वस्त्र पहने देखूँगा; तो मैं यह समझूँगा कि यह मेरी सहायता का पात्र है। मेरे बहरे कान भी उसके दुःख को सुनेंगे और उनकी सहायता करेंगे।”

सम्राट के कान बहरे हो गए, तब भी उन्होंने प्रजा की पुकार सुनना बन्द नहीं किया। उन्होंने प्रजा की पुकार सुनने का एक नया उपाय खोज निकाला।

इस प्रकार जिनके हृदय में मानवता का मधुर रस है, वे हर प्रकार से पीड़ित मानवता के दुःखों को दूर करने में सदैव तत्पर रहते हैं।

अध्याय १२

परोपकार

जब हमारी सहानुभूति की भावना सक्रिय रूप धारण कर लेती है अर्थात् जब हमारी सहानुभूति हमें दुःखी जन या पीड़ित जन की सहायता करने के लिए प्रेरणा करती है और हम वास्तव में उसकी सहायता करते हैं, तब उसे परोपकार कहा जाता है। इस प्रकार परोपकार की भावना को सहानुभूति से ही शक्ति व प्रेरणा मिलती है। आप एक दस दिन से लुधा पीड़ित व्यक्ति को राजपथ के किनारे पड़ा हुआ देखते हैं, आप के हृदय में पहले उसकी इस दशा को देख सहानुभूति होती है, आप के हृदय में लुधा के कारण होने वाले दुःख की अनुभूति होती है; तब आप उसके निवारण के लिए चेष्टा करते हैं और दूकान से पूड़ियाँ खरीद कर लाते हैं, उसे दूध सेवन कराते हैं। इस प्रकार आपका यह कार्य परोपकार हुआ। समाज के कल्याण के लिए परोपकार की बड़ी आवश्यकता है। परोपकार से केवल समाज का ही कल्याण नहीं होता। वरन् उससे मानव को आध्यात्मिक शान्ति और आनन्द भी मिलता है। मनुष्य परोपकार क्यों करता है? इसलिए कि उसकी आत्मा को शान्ति और आनन्द मिले। परोपकार को पुण्य समझते हैं, और पापों के क्षय के लिए पुण्य कर्मों का सम्पादन आवश्यक है। इसलिए भी परोपकार किए जाते हैं।

किन्तु हमारे विचार में परोपकार करने का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। हमने यह देख लिया है कि मानव की

प्रकृति स्वार्थ-मयी है। उसमें स्वार्थ भावना का प्राधान्य होता है। एक सीमा तक स्वार्थ भावना जीवन-रक्षा और जीवन विकास के लिए आवश्यक है। किन्तु इस स्वार्थ-परता को सामाजिक रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि इस पर बंधन लगा दिया जाय। यदि व्यक्ति की स्वार्थ-परता पर कोई बंधन न लगाया जाय, तो वह समाज के लिए अत्यन्त हानिप्रद सिद्ध होगी और फलतः व्यक्ति के लिए भी। इसलिए व्यक्ति की इस स्वार्थ-परता पर बंधन लगाने के हेतु ही परोपकारिता की आवश्यकता होती है। जब व्यक्ति की स्वार्थ-परता और उसकी परोपकार वृत्ति में सन्तुलन एवं सामंजस्य होता है, तभी वह अपना कल्याण करता हुआ समाज के कल्याण का भी प्रयत्न करता है, और जब इस सामंजस्य (Harmony) में कोई छुटि आजाती है, तब मानव स्वार्थी बन जाता है और वह समाज की हानि करके भी अपना कल्याण चाहता है। यह वास्तव में समाज-विरोधी प्रवृत्ति है।

आप संसार के इतिहास पर दृष्टि डालें तो आपको यह विदित होगा कि प्रत्येक देश में ऐसे महान परोपकारी हुए हैं, जिन्होंने समाज के कल्याण के लिए अनेक ऐसे कार्य किए हैं, जिनसे मानवता का बड़ा हित हुआ है।

स्वीडेन में नोबुल नामक एक महान वैज्ञानिक हुआ जिसने कई महान वैज्ञानिक अविष्कार किए और मानव घातक यंत्रों का अविष्कार किया ! इस महान् वैज्ञानिक को अन्तिम समय अपने जीवन से घोर असन्तोष हुआ और अपनी समस्त अर्जित पूंजी को जो कई करोड़ रुपये की थी एक ट्रस्ट को दे दी और यह आदेश दिया कि मेरे इस धन से बिना किसी देश रंग, जाति और भाषा के भेद-भाव के संसार के सबसे महान

लेखक, विज्ञानवेत्ता, चिकित्सा-शास्त्र-विशेषज्ञ, तथा शान्ति स्थापना के लिए सर्वाधिक उद्योग करने वाले व्यक्ति को प्रतिवर्ष एक एक लाख रुपये का पुरस्कार दिया जाय ।

इस प्रकार ये नोबुल पुरस्कार २५-३० वर्षों से प्रदान किए जा रहे हैं । हमारे देश में अबतक एक साहित्यकार और एक वैज्ञानिक को ये पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं । शान्ति-निकेतन के संस्थापक और विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उनकी 'गीतांजलि' नामक पुस्तक पर यह पुरस्कार मिला था और भारत के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता डा० सी० वी० रमण को भौतिक विज्ञान सम्बन्धी रमण प्रभाव (Raman Effect) नामक खोज पर यह पुरस्कार मिल चुका है ।

हमारे देश में भी अनेक उदारमना धनी व्यक्तियों ने अपने धन से अनेक शिक्षालय, चिकित्सालय, आश्रम, धर्म-शाला, देव-मन्दिर, आदि स्थापित किये हैं । इस प्रकार इन संस्थाओं से जनता का हित-साधन हो रहा है ।

हमारे देश में दान की महिमा सदैव से रही है । किन्तु देश में गरीबी की अधिकता के कारण दान का महत्त्व गिर गया है । देश में कुछ लाख व्यक्ति ही ऐसे हैं, जो करोड़-पति हैं—लखपति हैं, अन्यथा देश की करोड़ों की जनता अत्यन्त गरीब है ।

हमारे देश में शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान, भोजन तथा रोजगार की बड़ी विकट समस्याएँ हैं । इन क्षेत्रों में परोपकारिता के कार्यों की बड़ी आवश्यकता है । किन्तु देश में अज्ञान और अशिक्षा तथा गरीबी के कारण जनता और धनी जन अपने धन का सदुपयोग नहीं करते । वे अपने धन का अधिक भाग ऐसे व्यक्तियों पर खर्च करते हैं, जिनसे समाज का उपकार नहीं

होता । देश में कई लाख की संख्या में साधु हैं; ये लोग अपने वस्त्र गेरुए रंग कर प्रातः सायं भंग, पीते एवं चर्च की दम लगाते हैं और पौष्टिक तथा स्वादिष्ट भोजन करके तीर्थों तथा मन्दिरों में व्यभिचार तथा पाप-लीला करते हैं । इनके अतिरिक्त देश में लाखों की संख्या में अनाथ बालक बालिकायें हैं, जिनके लिये पर्याप्त भोजन भी नहीं मिलता और अनेक अनाथालय अपने अनाथ बालकों को ग्रामों व बस्तियों में भेज कर भिछा मंगवाते हैं । इस प्रकार वे इनके साथ कोई परोपकार न कर उन्हें भिछावृत्ति सिखा कर देश का बड़ा अनर्थ कर रहे हैं ।

अपने देश में अनेक सामाजिक रोग हैं । उनसे सबसे भय-ङ्कर हैं बाल-विवाह और विधवा विवाह का न होना । बाल-विवाहों की संख्या में अभी पर्याप्त कमी नहीं हुई है, यद्यपि बालविवाह अवरोधक कानून सन् १९३० से प्रचलित है । आज से वर्षों पूर्व विधवा विवाह के सम्बन्ध में कानून बन गया था । किन्तु उससे ब्राह्मण तथा वैश्य आदि ने कोई लाभ नहीं उठाया । ब्राह्मणों तथा वैश्यों में पुरुष तो अनेक विवाह कर सकता है । विधुर यदि ६० वर्ष का है तो वह २० वर्षीय युवती से विवाह कर सकता है; किन्तु युवती यदि १६ वर्ष की विधवा हैं, तो उसे आजन्म विधवा ही रहना पड़ेगा और इसका फल यह होता है कि वे कुपथ-गामिनी हो जाती हैं, वे व्यभिचारिणी हो जाती हैं और वे अन्त में बेरयावृत्ति करने लगती हैं ।

इस प्रकार आर्य-समाज ने विधवा-आश्रम स्थापित कर विधवाओं के विवाह कराने का आन्दोलन आरम्भ किया । यह वास्तव में समाज में परोपकार का कार्य था । किन्तु पापी व्यवसायी जनों ने इस पवित्र कार्य का भी दुरुपयोग किया और इसके कारण आज विधवाश्रम भी बदनाम हैं ।

आज व्यभिचार, पापाचार और स्त्री-व्यापार के केन्द्र बने हुये हैं ।*

परोपकार के लिए धन ही एक मात्र साधन नहीं है और न यही सत्य है कि केवल धनी व्यक्ति ही परोपकार कर सकते हैं । परोपकार के लिए हृदय में सहानुभूति चाहिए और जिनके हृदय में सच्ची सहानुभूति है, वही परोपकार कर सकते हैं ।

एक साधारण अकिंचन व्यक्ति भी परोपकार कर सकता है । परोपकार करने के अनेक साधन हैं । जो विद्यार्थी अपने अवकाश के समय अपने ग्राम व बस्ती के निरक्षर बालकों को पढ़ाते हैं, वे उनके प्राते उपकार करते हैं । विद्या-दान सब दानों में उत्तम माना गया है । जो रोगी, कोढ़ी, और अंधे तथा अंगहीन व्यक्ति की सेवा करता है, वह परोपकार करता है । जो वाचनालय खोल कर नागरिकों को ज्ञान देता है, वह परोपकार करता है । जो लेखक, पत्रकार, संपादक और साहित्यकार अथवा कलाकार अपनी पुस्तक, लेख, पत्र अथवा चित्र, काव्य, नाटक, संगीत या नृत्य द्वारा जनता को जीवन का सन्देश देता है, जो उसमें उदात्त भावनाओं का उद्बोध करता है, जो उन्हें सत्पथ की ओर निर्देश करता है, तथा जो अपने नृत्य एवं संगीत द्वारा उसकी भावनाओं का परिष्कार करता है वह वास्तव में एक महान परोपकारी है ।

हम यहां महाभारत से एक प्रसंग का वर्णन करेंगे जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि परोपकार का कितना महत्व है ।

*संयुक्तप्रान्त की सरकार ने सन् १९४८ में प्रान्त की विधवाश्रमों की जांच करने के लिए सभा-सचिव पं० जगनप्रसाद रावत की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्ति की थी । इस समिति ने भी इन आश्रमों के सम्बन्ध में यही विचार प्रकट किया है ।

पाँचों पांडवों को एक भव्य तथा सुन्दर भवन में रखा गया । देखने में यह बड़ा सुन्दर था । किन्तु उसका निर्माण उनके शत्रु पुरोचन ने किया था । इस भवन की दीवारें तथा फर्श ऐसी वस्तु के बनाये गये कि जो शीघ्र ही जल जाय । वह इस भवन में आग लगाने की युक्ति सोच रहा था ।

इस प्रकार प्रपंच रचा गया । पांडवों के पास एक ऐसा व्यक्ति आया जो खनिज-विद्या में पारंगत था । उसने पांडवों से कहा—

“आपके एक मित्र ने मुझे यहां भेजा है, जिससे मैं आपकी सेवा कर सकूँ । मैं खनिज विद्या में निपुण हूँ । आप मुझे बतायें कि मैं किस प्रकार आपकी सेवा करूँ । मैं निश्चयपूर्वक यह जानता हूँ कि आपका शत्रु पुरोचक आप सबों को जीवित ही इस भवन में जलाने का षड्यन्त्र रचेगा ।”

युधिष्ठिर ने उससे कहा—

“तब आप अपनी बुद्धि से इस भवन को उड़ा देने का प्रयत्न क्यों नहीं करते और हमारे लिए ऐसा मार्ग तैयार क्यों नहीं करते जिससे हम यहां से सकुशल चले जायं । हम आपके द्वारा बनाये गए गोपनीय द्वार से ही जायेंगे, जिससे द्वार रक्षक भी हमें न देख सकें ।”

भवनके फर्श के मध्य में उसने खोदना आरम्भ किया सुरंग बनाई गई । ऊपर से उसे एक तरुते से ढक दिया गया और उस पर सुन्दर गलीचा बिछा दिया गया । यह सुरंग इस भवन से एक वन में सुन्दर स्थान तक बनाई गई ।

एक रात्रि को पुरोचन ने इस भवन में आग लगा दी । तब अपनी माता कुन्ती के साथ पाँचों राजकुमार उस सुरंग द्वारा भागने का प्रयत्न करने लगे । सुरंग में घोर अन्धकार था; किन्तु मार्ग सरजित था । जब भीम ने यह देखा कि अन्य राजकुमार

शीघ्रता नहीं कर रहे हैं, तब उसने अपनी मां को कंधों पर ले लिया, अपने दो भाइयों को पीठ पर ले लिया और एक-एक साथ से उन्हें पकड़ा और वायु के समान तेज गति के साथ मृत्यु-पाश से दूर हो गया ।

इस प्रकार पुरोचन का प्रपंच खनिज-विद्या-विशारद की युक्ति से विफल हो गया ! यह उसकी परोपकार करने की वृत्ति का चमत्कार था ।

इस प्रकार एक ने अपने ज्ञान-विज्ञान का प्रयोग संहार के लिए किया और दूसरे ने रक्षा के लिए ।

आज वैज्ञानिक-जगत में नित्य नवीन आविष्कार हो रहे हैं; इनके द्वारा जहां मानव हितकारी वस्तुओं का निर्माण हो रहा है, वहां मानव-संहार-कारी यन्त्रों, अणुबमों (Atom Bombs) तथा अनेक रसायनिक द्रव्यों का आविष्कार हो रहा है । इस प्रकार हम यह देखते हैं कि विज्ञान का प्रयोग संहार और विकास दोनों के लिए हो सकता है । यदि मनुष्य के हृदय में मानवता के लिए प्रेम, दया और उदारता है, तो वह मानव-हितकारी वस्तुओं का उत्पादन करने में प्रयत्न करेगा और यदि वह इन गुणों से हीन है, तो उसके द्वारा मानव-संहार ही होगा ।

इस प्रकार हम यह स्पष्ट देखते हैं कि मानव-विकास, मानव-कल्याण और विश्व-शान्ति के लिए परोपकार की नितान्त आवश्यकता है ।

अध्याय १३

मित्रता

चरित्र-निर्माण के लिए हमें एक सच्चे मित्र की आवश्यकता होती है, जो हमें दुष्प्रवृत्तियों से हटा कर भ्रष्ट कार्यों की ओर प्रवृत्त कर सके, जो हममें त्रुटियाँ हैं, उन्हें दूर कर हमें सत्पथ पर अग्रसर कर सके और जो हमें आपत्ति के समय धैर्य एवं सान्त्वना देकर हमें अपने कर्तव्य-पथ से विचलित न होने दे। महात्मा भर्तृहरि ने मित्र के गुणों का वर्णन निम्न प्रकार किया है:—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गूह्यं च गूहति गुणान्प्रकटी करोति ।
आपद्गंत च न जहाति ददाति,
काले सान्मेत्र लक्षणाभिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

अर्थात्—मित्र को पाप करने से वर्जित करे और उसके हित की बात का उसे उपदेश करे; उसकी गोपनीय बातों को किसी पर प्रकट न करे, उसके गुणों को प्रकट करे, आपत्ति काल में उसका साथ न त्यागे और समय पड़ने पर यथाशक्ति द्रव्य (धन) भी दे। सन्तों ने सद् मित्र के यही लक्षण कहे हैं।

संसार में ऐसे लक्षणों से युक्त सन्मित्र बहुत ही कम मिलेंगे। संसार में ऐसे मित्र तो मिलते हैं, जो समय पड़ने पर अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए घड़ी चाटुकारिता करते हैं। किन्तु वे अपने मित्र के काम में कभी नहीं आते।

इसलिए मित्रता बड़े विचार पूर्वक करनी चाहिए। एक बार मित्रता करने के बाद आजन्म उसका निर्वाह करना चाहिए मित्रता सदैव समान आचार विचार, गुण और योग्यता के व्यक्तियों में ही निभ सकती है। यों मित्रता धनी, दरिद्र, शिक्षित अशिक्षित, कुलीन या गरीब में भेद-भाव नहीं रखती। फिर भी मित्रता करते समय इन सब का पूरा विचार रखना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य को अपना व्यवहार प्रायः सभी के साथ मित्रता का रखना चाहिए। किसी से भी ईर्ष्या व द्वेष और शत्रुता नहीं रखनी चाहिए।

मित्रता को सदैव कायम रखना भी एक कला है और इसमें प्रत्येक व्यक्ति पारंगत नहीं होता। इसलिए इसके लिए भी अभ्यास व प्रयत्न की आवश्यकता है।

संसार में विचार एवं रुचि में विविधता सभी मनुष्यों में मिलती है, किन्तु प्रकृति व स्वभाव के अनुसार मनुष्य तीन भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—सात्विक, राजसिक और तामसिक। सात्विक प्रकृति के व्यक्ति तामसिक प्रकृति के व्यक्ति के साथ मित्रता नहीं कर सकते। इसी प्रकार राजसिक प्रकृति के व्यक्ति की मित्रता सात्विक प्रकृति के पुरुष के साथ नहीं हो सकती। अतः मित्रता करते समय विचार आचार तथा प्रकृति में साम्य का ध्यान रखना चाहिए। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यदि एक मित्र आर्य-सामाजिक विचारों का है और दूसरा वेदान्ती है या कबीर पंथी तो उनमें मित्रता नहीं हो सकती। किन्तु एक मित्र शाकाहारी; सदाचारी है और किसी प्रकार के दुर्गुण में लिप्त नहीं है और दूसरा लम्पट, दुराचारी; जूएबाज तथा व्यभिचारी है, तो इन दोनों में मित्रता का कोई बंधन ही नहीं। अतः मित्रता के लिए विचारों की एकता आवश्यक है।

यदि मित्रों के विचारों में परस्पर अन्तर भी हो तो एक दूसरे को परस्पर सहनशीलता का व्यवहार करना चाहिए। सहिष्णुता (Tolerance) के कारण उनके विचारों की विभिन्नता से भी मित्रता में कोई अन्तर नहीं आयेगा।

मित्रों को परस्पर अपना व्यवहार बहुत ही स्पष्ट और पवित्र रखना चाहिए। किसी को कपटाचार या छल का व्यवहार भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि एक मित्र दूसरे मित्र की प्रायः ऐसी गोपनीय बातें भी जान लेता है, जिन्हें गृहिणी या परिवार के दूसरे सदस्य भी नहीं जान सकते। इसलिए मित्र को अपनी स्थिति से अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए।

मित्रों को एक दूसरे के साथ सौम्यता और उदारता का व्यवहार करना चाहिए। अपने मित्र को कभी किसी प्रकार की हानि न पहुँचाना चाहिए। मित्र का यह परम धर्म है कि वह अपने मित्र का सदैव हितचिन्तन करे और अपने मन में कभी उसके प्रति दुर्विचार न लावे।

ऐसे भी अवसर प्रायः आते हैं जब किसी भ्रान्ति (Misunderstanding) के कारण उनमें फूट पड़ जाती है और वह फूट कभी-कभी बड़े विवाद का रूप भी धारण कर लेती है। ऐसे अवसरों पर मित्रों को एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और किसी प्रकार भी एक दूसरे का अनिष्ट नहीं करना चाहिए।

यहाँ हम महाभारत में से एक प्रसंग उपस्थित करते हैं, जिससे ऐसे मित्रों को काफी शिक्षा मिलती है।

कुरुक्षेत्र के युद्ध में युधिष्ठिर और अर्जुन में परस्पर विवाद हो गया।

युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—“तुमने रणभूमि को छोड़कर

भयंकर भूल की है, जबकि हमारा बलवान् शत्रु कर्ण जीवित है और जो हमारे सैनिकों का संहार कर रहा है।”

अर्जुन ने कहा—“उस राजन् के लिए यह उचित नहीं है, जो युद्ध-भूमि से दो मील की दूरी पर हैं उस व्यक्ति को लांछित करें जो हर प्रकार से कर्ण की मृत्यु के लिए प्रयत्नवान् है। क्या युधिष्ठिर ने चूत-क्रीड़ा में भाग नहीं लिया था, जिसके कारण राज-पाट भी खोया, और स्वयं अपने चारों भाइयों के साथ देश से निर्वासित भी हुए।”

जब अर्जुन ने ये शब्द कहे, तब उन्हें अपने इन शब्दों के लिए दुःख हुआ और अपना सिर लज्जा से नीचे कर लिया और बड़े वेग से अपनी तलवार म्यान में से निकाली, मानो वह अपने जीवन का अन्त करना चाहते हों।

इस पर श्रीकृष्ण ने अपने मित्र अर्जुन से कहा—

“नहीं, ऐसा मत मत करो। यदि तुम्हें वास्तव में दुःख है, तो उसे अपनी प्रशंसा करके दिखलाओ। क्योंकि आत्म-प्रशंसा करना अच्छा नहीं है। आत्म-प्रशंसा से मनुष्य का छोटापन प्रतीत होता है। इसलिए अपनी प्रशंसा करो, मूर्खता दिखलाओ, इस प्रकार अपने दुर्वचनों के लिए पश्चात्ताप करो।”

उपहास में अर्जुन ने कहा—

“बंधु ! मैं महान धनुर्धारी हूँ। मैं एक क्षण में विश्व का संहार कर सकता हूँ। मैंने पश्चिम, पूर्व, उत्तर तथा दक्षिण के राष्ट्रों का संहार किया है। मैं अपने वाणों से आज कर्ण को यमलोक भेज दूँगा।”

इस पर अर्जुन ने अपने धनुष-वाण संभाले, अपनी तलवार म्यान में रखली और अपने दोनों करों को जोड़ कर धीमें स्वर में कहा—

“हे राजन् ! मुझे क्षमा-दान दो, यही मेरी विनय है।” युधिष्ठिर के हृदय में बड़ा क्षोभ था। वह अपने आसन से उठ खड़े हुए और कहने लगे तो—

“हे अर्जुन ! मैंने पाप किया है। मेरा सिर तलवार से उड़ा दो; क्योंकि मैं इस संसार में जीवित रहने के योग्य नहीं हूँ। मैं प्रमादी हूँ, कायर और क्रूर। मैं किस काम का हूँ ? मैं एकान्त वन में जाऊँगा……” इस प्रकार एक दूसरे ने परस्पर क्षमा याचना की और अपने दुर्बचनों के लिए पश्चात्ताप किया। दोनों के नयनों से अश्रुधारा बह निकली और जो हृदय किसी गाँठ के पड़ जाने के कारण मलीन हो गये थे, वे अश्रुधारा से विमल हो गये। अर्जुन फिर कर्ण से लड़ने के लिए तत्पर हो गए।

पश्चात्ताप (Repentance) भी कितनी पुनीत चीज है, जो दो हृदयों के परस्पर मिलन में बन्धन का काम करती है। यदि दो व्यक्ति परस्पर विवाद करने के पश्चात् सच्चे हृदय से अपने दोष-के लिए पश्चात्ताप करें, तो उनका हृदय स्फटिक के समान निर्मल हो जाता है।

सिंघल द्वीप में हर्षोत्सव की भांति पश्चात्ताप का भी सामा-रोह बड़े पर्व के रूप में होता है। आपने हर्ष मनाने के लिए पर्व, उत्सव और समारोह तो बहुत देखे होंगे, किन्तु पश्चात्ताप करने के लिए कोई उत्सव नहीं देखा होगा।

सिंघल द्वीप, जिसे आजकल सीलोन या लंका कहते हैं में पर्वत-माला की आदम नाम की चोटी है। इस चोटी के ऊपर चढ़ना सहज काम नहीं है। इस चोटी तक पहुँचने में अनेक सघन वनों को चीरते हुए अनेक चट्टानों और चोटियों को लांघना पड़ेगा और फिर खतरनाक पगडंडियों में होकर गुजरना

पड़ेगा। इस प्रकार बड़ी कठिनाई के साथ यात्री उस चोटी पर पहुँचते हैं, जहाँ 'पवित्र पदचिह्न' दिखाये जाते हैं।

कई वर्ष हुए एक यात्री इस चोटी पर पहुँच गया। उसने वहाँ से सिंघली नर-नारियों का विशाल समूह देखा, जो 'पवित्र पदचिह्न' देखने के लिए एकत्रित हो गया था। वे अपने धर्माचार्य के आदेशानुसार कुछ धर्म-वचन दुहराने लगे।

जब यह क्रिया समाप्त हो गई, तब क्या हुआ? पत्नियों ने अपने पतियों को नमस्कार किया; बालकों ने अपने माता-पिताओं को नमस्कार किया; मित्रों ने परस्पर अभिवादन किया। वृद्धा स्त्रियों ने वृद्ध पुरुषों को नमस्कार किया। वृद्ध के नयनों में अश्रु-जल था; उसने-उस वृद्धा को भूमि पर से उठाया। अनेक अधेड़ आयु के पुरुषों ने वृद्ध स्त्री-पुरुषों के सामने नतमस्तक किया। और तरुण पुरुष स्त्रियों ने अधेड़ आयु के स्त्री-पुरुषों का अभिवादन किया। जिस समय उन्होंने नमस्कार किया, परस्पर एक दूसरे को पान भेंट किए।

इन नमस्कारों तथा अभिवादनों का तात्पर्य क्या है? यात्री ने, जो इङ्गलैंड का निवासी था, यह प्रश्न किया। उसे उत्तर मिला कि आदम की चोटी पर एक परिवार के सदस्य, मित्र व पड़ोसी किसी भी विवाद के सम्बन्ध में क्षमा करने के लिए, तथा त्रुटियों के लिए क्षमा मांगने के लिए और वे अपनी मैत्री की भावना को पुनर्जीवित करने के लिए चिन्तित हैं।*

इस प्रकार हम परचाताप के द्वारा आदम की चोटी पर चढ़े बिना ही अपने हृदयों को पवित्र बना सकते हैं और हममें

एक दूसरे के प्रति जो मंलीन विचार हैं, उनको सहज ही दूर कर सकते हैं।

मैत्री का अपूर्व आदर्श हमें श्री कृष्ण चरित में मिलता है। योगिराज श्रीकृष्ण की सुदामा नामक ब्राह्मण से बाल्य-काल से ही मित्रता थी। सुदामा की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। घर में अन्न का दाना नहीं था। उसकी स्त्री और स्वयं सुदामा के पास अच्छे वस्त्र भी नहीं थे। एक दिन सुदामा की स्त्री ने उससे कहा—

“घर में अन्न नहीं रहा है। मैंने सुना है कि श्रीकृष्ण बड़े दयालु हैं।”

“अच्छा, तो मैं अवश्य ही जाऊँगा। पर भेंट के लिए कुछ तो होना ही चाहिए।”

स्त्री ने अपने पड़ोस की एक स्त्री से कुछ चावल मांग लिए और उन्हें एक फटे वस्त्र में बांध कर सुदामा को दे दिए।

सुदामा राज-भवन के द्वार पर पहुँचा और उसने श्रीकृष्ण से भेंट करने की याचना की। श्रीकृष्ण के आदेश से सुदामा को उनके पास ले जाया गया। श्रीकृष्ण ने उसे पहचान लिया और तुरन्त ही बैठने के लिये आसन दिया। श्रीकृष्ण ने स्वयं उनके पैर धोए और उनकी रानी रुक्मिणी ने उन्हें भोजन कराया। भूखे ब्राह्मण को इस उदारता पूर्ण व्यवहार से बड़ी तृप्ति हुई।

श्रीकृष्ण ने कहा—“क्या तुम्हें यह याद है कि मैंने और तुमने गुरु जी के चरणों में बैठ कर शिक्षा प्राप्त की थी? तुम्हें यह भी स्मरण है कि हम अपनी गुरु-पत्नी के लिये वन से लकड़ियाँ चुनकर लाते थे? और एक बार हम एक तूफान के वेग में पड़ गए थे? हमें उस दिन एक कुटी में ठहरना पड़ा,

पड़ेगा। इस प्रकार बड़ी कठिनाई के साथ यात्री उस चोटी पर पहुँचते हैं, जहाँ 'पवित्र पदचिह्न' दिखाये जाते हैं।

कई वर्ष हुए एक यात्री इस चोटी पर पहुँच गया। उसने वहाँ से सिंघली नर-नारियों का विशाल समूह देखा, जो 'पवित्र पदचिह्न' देखने के लिए एकत्रित हो गया था। वे अपने धर्माचार्य के आदेशानुसार कुछ धर्म-वचन दुहराने लगे।

जब यह क्रिया समाप्त हो गई, तब क्या हुआ ? पत्नियों ने अपने पतियों को नमस्कार किया; बालकों ने अपने माता-पिताओं को नमस्कार किया; मित्रों ने परस्पर अभिवादन किया। वृद्धा स्त्रियों ने वृद्ध पुरुषों को नमस्कार किया। वृद्ध के नयनों में अश्रु-जल था; उसने-उस वृद्धा को भूमि पर से उठाया। अनेक अधेड़ आयु के पुरुषों ने वृद्ध स्त्री-पुरुषों के सामने नतमस्तक किया। और तरुण पुरुष स्त्रियों ने अधेड़ आयु के स्त्री-पुरुषों का अभिवादन किया। जिस समय उन्होंने नमस्कार किया, परस्पर एक दूसरे को पान भेंट किए।

इन नमस्कारों तथा अभिवादनों का तात्पर्य क्या है ? यात्री ने, जो इङ्गलैंड का निवासी था, यह प्रश्न किया। उस उत्तर मिला कि आदम की चोटी पर एक परिवार के सदस्य, मित्र व पड़ोसी किसी भी विवाद के सम्बन्ध में क्षमा करने के लिए, तथा त्रुटियों के लिए क्षमा मांगने के लिए और वे अपनी मैत्री की भावना को पुनर्जीवित करने के लिए चिन्तित हैं।*

इस प्रकार हम परचाताप के द्वारा आदम की चोटी पर चढ़े बिना ही अपने हृदयों को पवित्र बना सकते हैं और हममें

एक दूसरे के प्रति जो मंलीन विचार हैं, उनको सहज ही दूर कर सकते हैं।

मैत्री का अपूर्व आदर्श हमें श्री कृष्ण चरित में मिलता है। योगिराज श्रीकृष्ण की सुदामा नामक ब्राह्मण से बाल्य-काल से ही मित्रता थी। सुदामा की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। घर में अन्न का दाना नहीं था। उसकी स्त्री और स्वयं सुदामा के पास अच्छे वस्त्र भी नहीं थे। एक दिन सुदामा की स्त्री ने उससे कहा—

“घर में अन्न नहीं रहा है। मैंने सुना है कि श्रीकृष्ण बड़े दयालु हैं।”

“अच्छा, तो मैं अवश्य ही जाऊँगा। पर भेंट के लिए कुछ तो होना ही चाहिए।”

स्त्री ने अपने पड़ोस की एक स्त्री से कुछ चावल मांग लिए और उन्हें एक फटे वस्त्र में बांध कर सुदामा को दे दिए।

सुदामा राज-भवन के द्वार पर पहुँचा और उसने श्रीकृष्ण से भेंट करने की याचना की। श्रीकृष्ण के आदेश से सुदामा को उनके पास ले जाया गया। श्रीकृष्ण ने उसे पहचान लिया और तुरन्त ही बैठने के लिये आसन दिया। श्रीकृष्ण ने स्वयं उनके पैर धोए और उनकी रानी रुक्मिणी ने उन्हें भोजन कराया। भूखे ब्राह्मण को इस उदारता पूर्ण व्यवहार से बड़ी तृप्ति हुई।

श्रीकृष्ण ने कहा—“क्या तुम्हें यह याद है कि मैंने और तुमने गुरु जी के चरणों में बैठ कर शिक्षा प्राप्त की थी? तुम्हें यह भी स्मरण है कि हम अपनी गुरु-पत्नी के लिये वन से लकड़ियाँ चुनकर लाते थे? और एक बार हम एक तूफान के वेग में पड़ गए थे? हमें उस दिन एक कुटी में ठहरना पड़ा,

तब गुरु जी हमारे लिए कितने चिन्तित रहे थे ? बे प्रातःकाल उठे और सबसे पहले हमारी खोज में निकले ?”

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने बातों की और सुदामा बहुत ही प्रसन्न हुए । अन्त में श्रीकृष्ण ने कहा—

“क्या तुम मेरे लिए कोई भेंट लाये हो ? मुझे तो दिखलाओ वह क्या है”

किन्तु सुदामा को अपनी कुछ भेंट के लिये बड़ी लज्जा अनुभव हुई । श्रीकृष्ण ने बड़े प्रेम से सुदामा के चावल ग्रहण किये और उन्हें खाने लगे । श्रीकृष्ण ने कहा—

“तुम्हारे चावलों से मुझे सबसे अधिक आनन्द मिला है ।” इस प्रकार श्रेष्ठ जन अपने से छोटी के प्रति उदारता दिखलाते हैं । सुदामा उस रात्रि को राजभवन में राजकीय शय्या पर सोए । दूसरे दिन अपने घर को चल दिये । श्रीकृष्ण ने सुदामा को कुछ धन-सम्पदा भेंट नहीं की, किन्तु दया और उदारता का व्यवहार किया ।

जब वह अपने ग्राम में आये तो क्या देखते हैं कि उनकी पूर्ण कुटी के स्थान पर बड़ा सुन्दर भवन खड़ा है; उसके आगे मनोरम वाटिका है । उसमें कई सरोवर और फव्वारे हैं । उसमें उनके परिचारिकाओं व सेवकों की आवाजें सुनाई पड़ रही हैं । उस सुन्दर भवन में से सुदामा के स्वागत के लिए संगीत की ध्वनि सुनाई दे रही थी । उसकी स्त्री सुन्दर वेषभूषाधारण कर बड़ी प्रसन्नता से बाहर आई । वह अपने पति से मिली और भवन के कक्षों में इधर से उधर घूमने लगे । वे श्रीकृष्ण की इस उदारता और कृपा की प्रशंसा करने लगे । ये सब उनकी ही कृपा से हुआ था ।*

हिन्दी के आधुनिक युगान्तरकारी महाकवि श्री पं० सूर्यकान्त 'निराला' से कौन परिचित नहीं होगा ? उनकी परिमल, गीतिका, अप्सरा, अलका, आदि पुस्तकों ने हिन्दी जगत में बड़ा आदर प्राप्त किया है ।

अतुकान्त कविता का हिन्दी में सबसे प्रथम प्रयोग उन्होंने ही किया । छायावाद और प्रगतिवाद का उनकी कविता में सबसे प्रथम प्रयोग किया गया । हिन्दी का यह महा-कवि आज इलाहाबाद के दारागंज मुहल्ले की एक टूटी-फूटी पुरानी कोठरी में बैठ कर साहित्य-साधना में लीन है । उनके पास न साफ सुथरे वस्त्र हैं और न पैर में अच्छा जूता और न शीत से रक्षा के लिए कम्बल, गद्दा व लिहाफ ही । वह स्वयं अपने हाथ से भोजन बनाते हैं । घन्टों में भोजन बना पाते हैं । इस प्रकार वह आज एक भारतीय मजदूर का-सा जीवन बिता रहे हैं । वह वास्तव में बड़े आर्थिक संकट में हैं । इसी वर्ष संयुक्त प्रान्त की लोकप्रिय सरकार की ओर से उन्हें 'अप्सरा' नामक पुस्तक पर २१००) का पुरस्कार मिला था । किन्तु आप इस महाकवि के हृदय की अपूर्व उदारता एवं मानवता देखिये कि पुरस्कार के ये सब रुपये अपने मित्र स्वर्गीय मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव (भूतपूर्व संपादक मतवाला व चांद) की धर्म पत्नी को दे दिए । उनकी धर्म-पत्नी तथा बालक बड़े कष्ट में थे अतः उनके लिए पुरस्कार की पूरी रकम दे दी । यह मित्रता का कितना उच्च आदर्श है ।

अध्याय १४

सहयोग

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । वेद

उपर्युक्त वेद-मंत्र का आशय यह है कि मनुष्य संघ बना कर रहें। उत्तम भाषण करें और अपने मनों में एकता उत्पन्न करें। इस प्रकार हमारे वेद भी मानव मात्र को संगठन व सहयोग का आदेश देते हैं। हमारी संस्कृति और सभ्यता में भी सहयोग का महत्व देख पड़ता है। उसमें प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग ही देख पड़ता है। मानव स्वभाव से सामाजिक जीव है, ऐसा प्रायः सभी विद्वान मानते हैं। किन्तु सत्य तो यह है कि यह सामाजिकता (Sociability) तथा पारस्परिक सहयोग की भावना केवल मानवों तक तक ही सीमित नहीं है, बरन् पशु-जगत में भी मिलती है। रूस के सुप्रसिद्ध अराजकतावादी प्रिंस क्रोपाटकिन ने अपनी 'पारस्परिक सहायता' (Mutual Aid) नामक पुस्तक में जीव तथा मानव-जगत से विविधि प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि "सौभाग्य से न तो पशु-जगत में और न मानव-जगत में प्रतियोगिता का नियम है। प्रतियोगिता पशुओं में एक विशेष अवस्था में मिलती है और प्राकृतिक चुनाव में ही उसका प्रयोग किया जाता है। पारस्परिक सहायता एवं समर्थन के साधनों द्वारा प्रतियोगिता का निष्कासन कर सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा की जा सकती है।"

प्रोफेसर केसकर का यह मत है कि “मैं जीवन संग्राम के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु मैं यह मानता हूँ कि पशु-जगत का प्रगतिशील विकास और विशेष रूप से मानव जाति का विकास पारस्परिक संघर्ष के स्थान में पारस्परिक सहयोग द्वारा अधिक होता है।.....समस्त शरीरधारी जीवों की दो आवश्यकतायें हैं; आत्म-रक्षण तथा स्वजाति का विकास। पहली आवश्यकता के कारण उन्हें जीवन में संग्राम करना पड़ता है और स्वजाति-रक्षा (Maintaining the Species) के लिए परस्पर सहयोग करना पड़ता है किन्तु मेरा यह विचार है कि जीव-जगत के विकास में पारस्परिक संघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग का महत्व-पूर्ण स्थान है।”

इस प्रकार यह देखते हैं कि चींटी, मधुमक्खी, बन्दर, चिड़ियाँ आदि सब पारस्परिक सहयोग एवं सहायता से ही अपनी रक्षा करती हैं और अपनी जातियों की भी रक्षा करती हैं। यही नहीं वनवासी जातियों में भी सहयोग का सिद्धान्त काम करता है। नरभक्षी वन-वासी भी दूसरी जातियों को खा जाने पर भी स्वजाति में सहयोग-पूर्वक रहते हैं। उनमें नैतिकता तथा सदाचार के नियम भी मिलते हैं।

प्रिंस क्रोपाटकिन ने अपनी पुस्तक ‘पारस्परिक सहयोग’ में उत्तरी ध्रुव के हिम प्रदेश पर निवास करने वाली ऐस्किमो जाति के सम्बन्ध में यह लिखा है कि—

“इनका सामाजिक संघटन बहुत ही आदिम काल का है : यद्यपि इनमें अब समुदायिक विवाह प्रणाली प्रचलित नहीं है। वे परिवारों में रहते हैं; किन्तु पारिवारिक बन्धन प्रायः तोड़ दिए जाते हैं; पत्नियों, पत्नियों में परस्पर आदान-प्रदान (Exchange) हो जाता है। परिवार एक जाति के बन्धन में

रहते हैं। यदि वे इस प्रकार मिलकर न रहें तो जीवन संग्राम में कठिनाइयों से मुकाबला कैसे कर सकेंगे ? इस प्रकार वे जाति के रूप में संगठित होकर रहते हैं और यह जाति-बन्धन उत्तरी-पूर्वी ग्रीन-लैण्ड में अधिक दृढ़ है। वे लम्बे घरों में रहते हैं और एक ही घर में कई परिवार रहते हैं; वे परिवार एक दूसरे से एक छोटी-सी 'फर' की दीवार बनाकर प्रथक हो जाते हैं; बीच में छोटा-सा द्वार भी बना लेते हैं। कुछ जर्मन-यात्री इनके जीवन का अध्ययन करने गये। उन्होंने इनके जीवन का अध्ययन कर यह मत प्रकट किया है कि इन लम्बे घरों में रहने वाले परिवारों के बीच कभी कोई विवाद नहीं हुआ और न उनमें कोई झगड़े देखे गए। इनमें एक दूसरे को अपशब्द कहना या गाली-गलौज करना सदाचार के विरुद्ध माना जाता है। सदियों से साथ-साथ घनिष्ठता के साथ रहने से और एक दूसरे पर निर्भर रहने के कारण इनमें एकता की भावना अधिक विकसित हो गई है। ऐस्किमो जाति के बड़े-बड़े समुदायों में भी लोक-मत ही न्याय का सिंहासन माना जाता है और जाति के समस्त अपराधी को लज्जित करना ही दण्ड माना जाता है। इनका जीवन समाज-वादी सिद्धान्त के आधार पर है। ये लोग जो कुछ भी शिकार या मछलियाँ मार कर लाते हैं, वे पूरी जाति की सम्पत्ति मानी जाती है। किन्तु पश्चिमी भाग में, जिस पर डेन जाति का प्रभाव है, व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना का विकास हो गया है। किन्तु उनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों से मुक्त रहने के लिए एक बड़ी विचित्र प्रथा है। जब कोई व्यक्ति धनी हो जाता है, तो वह एक भोज देता है, जिसमें उसकी जाति के सब लोग भाग लेते हैं। वह अपनी सारी सम्पत्ति उनमें वितरित कर देता है। यूकोन नदी के तट के एक कुदुम्ब को इस प्रकार १० बन्दूकें, १० फर की

पोशाकें, २०० मालायें, बहुत-से कम्बल, १० भेड़िए के फर की पोशाकें इत्यादि बांटते देखा गया ।”*

प्रिंस क्रोपाटकिन ने अपनी इस पुस्तक का सार निम्नलिखित शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है :—

“प्रतियोगिता मत करो ! प्रतियोगिता सदैव जाति के लिए हानिकारक है और आपके पास उसे दूर करने के अनेकों साधन हैं । यह प्रकृति की प्रवृत्ति है, किन्तु इसे सदैव पूर्ण रूप में अनुभव नहीं किया जाता, तथापि यह सदैव विद्यमान रहती है । यह ध्वनि हमें वन, पर्वत और सागर से सुनाई देती है । “इसलिए मिलकर रहो; एक दूसरे की सहायता करो !” यही प्रत्येक की सबसे अधिक सुरक्षा का मार्ग है । “यही प्रत्येक के अस्तित्व और बौद्धिक, शारीरिक व मानसिक प्रगति की सबसे उत्तम गारंटी है ।” प्रकृति भी हमें यही शिक्षा देती है और यही पशु जगत में जिन पशुओं ने सर्वाधिक विकास किया है, उससे सिद्ध होता है । यही मानव—अत्यन्त आदिम मानव—के क्रिया-कलाप से सिद्ध है; और यही कारण है कि मानव ने इतनी अधिक उन्नति की है ।”†

पारम्परिक सहायता अथवा सहयोग न केवल मानव, वरन् समाज की उन्नति, विकास व कल्याण के लिए परम आवश्यक है । सहयोग से हमारे किसान अधिक अन्न पैदा कर सकते हैं; सहयोग से हमारे कृषि-कारखाने अधिक माल पैदा कर सकते हैं; सहयोग से हमारे देश की ग्राम-पञ्चायतें अपने ग्रामों को आर्द्रश ग्राम बना सकती हैं; सहयोग से हमारे नगरों में सुख, शान्ति और कल्याण की अभिवृद्धि हो सकती है; सहयोग से हम अपने

*Prince Kropotkin : Mutual Aid (Penguin) p. 88.

†Prince Kropotkin . Mutual Aid p. 73.

राष्ट्र की सम्मति में अभिवृद्धि कर सकते हैं; सहयोग से हम अपने जीवन का नव-निर्माण कर सकते हैं; सहयोग से अपने देश को साक्षर बना सकते हैं; सहयोग से हम अपने देश के उद्योग, व्यवसाय एवं व्यापार की उन्नति कर सकते हैं ।

आपने सहकारी-समितियों (Co-operative Societies) का नाम सुना होगा । हमारे देश में ये समितियाँ १५-२० वर्षों से काम कर रही हैं; दूसरे देशों में अमेरिका, ब्रिटेन व रूस में इन सहकारी समितियों ने आश्चर्यजनक उन्नति की है ।

हमारे देश में भी प्रान्तीय सरकारें जमींदारी का उन्मूलन कर जमीन को किसानों में वितरित कर उनमें सहकारी ढंग की कृषि प्रणाली प्रचलित करना चाहती हैं । ग्रामोद्योगों का संगठन भी सहकारी ढंग पर किया जा रहा है । जीवन-सुधार तथा सामाजिक सुधार के लिए भी सहकारी समितियाँ स्थापित की जा रही हैं । इस प्रकार सहकारी आन्दोलन की सफलता के कारण देश में सुख-समृद्धि की अभिवृद्धि होगी और आज जो अन्न तथा वस्त्र का अभाव देख पड़ता है, उसका भी निवारण हो सकेगा ।

हमारे पौराणिक साहित्य में अमृत-मंथन की कथा से आप शायद परिचित होंगे । एक बार देवताओं ने अमृत की खोज के लिए निश्चय किया । विष्णु ने ब्रह्मा से कहा—

“हम सागर से अमृत पा सकते हैं, उसी से हमें रत्न तथा अनेक औषधियाँ भी प्राप्त हो सकेंगी ।”

“विष्णु, किस प्रकार ?”

मंथन द्वारा । असुरों को भी इस कार्य में सहयोग देना चाहिए । देवताओं को भी सहयोग देना चाहिए । और बड़े धैर्य के साथ मंथन करने पर हमें अमृत मिल जायगा ।”

सबसे पूर्व देवताओं ने मन्दार पर्वत को उखाड़ लिया और उसे गंभीर समुद्र में कच्छप की पीठ पर रख दिया। यह मंथन के लिए रई थी। इसे समुद्र में इस प्रकार चलाया गया जिस प्रकार घड़े में दधि का मंथन किया जाता है। इसके लिए नागराज वासुकि की रस्सी बनाई गई। वासुकि को मन्दार पर्वत रूपी रई के चारों ओर लपेट दिया गया। असुरों ने उसके फन वाले भाग को पकड़ा और देवताओं ने पूँछ वाले भाग को दोनों ने उसे खींचा। इस प्रकार सागर का मंथन किया गया। वासुकि का शरीर मंथन-क्रिया से तप्त हो गया। उसके मुख से काला धूआँ और लाल ज्वाला निकलने लगी। वह धूआँ आकाश में छा गया और उसके बाद जल-वर्षा हो गई जिससे देवताओं व असुरों को परम आनन्द हुआ।

जल-वर्षा के बाद पुष्प-वर्षा हुई, मन्दार पर्वत के चारों ओर सुन्दर पुष्प छा गए। मन्दार पर्वत पर जो वन था, उसमें आग लग गई, किन्तु इन्द्र ने उसे शान्त कर दिया। इस वन के वृक्षों में से अनेक प्रकार की लकड़ियाँ समुद्र में गिरीं।

किन्तु इस प्रयत्न के बाद भी अमृत नहीं निकला। देवता तथा असुर सभी थक गए। वे विष्णु से कहने लगे—

“यह कार्य बड़ा भारी है, अमृत नहीं निकलेगा। सहायता करो।” विष्णु ने कहा—“अभी मंथन करो, मंथन करो, मंथन करो! हे, देव और असुरो, तुम्हारा श्रम व्यर्थ नहीं जायगा।”

सबसे पूर्व चन्द्र के दर्शन हुए, उसकी शीतल ज्योति से समस्त वातावरण प्रकाशमान हो उठा।

इसके बाद समुद्र से लक्ष्मी प्रकट हुई। अंगूर की बल्लरी प्रकट हुई और एक श्वेत अश्व भी प्रकट हुआ। इसके बाद

कौस्तुक मणि निकली। तब धन्वन्तरि प्रगट हुए जिनके हाथ में एक पात्र में अमृत था। इस पर सब देवता व असुर प्रसन्न हुए। मंथन जारी रहा। तब ऐरावत हाथी निकला। इसे इन्द्र ने ले लिया।

इसके बाद वायु से भयंकर दुर्गन्ध आने लगी और इस विषैली वायु से सभी आतंकित हो उठे। सभी चिल्लाकर कहने लगे—“महादेव ! इसे निगल कर हमें बचाओ”। महादेव ने इसे अपने मुख में निगल लिया। उसके प्रभाव से उनका कंठ नील वर्ण हो गया। इसलिए वह नीलकंठ कहलाने लगे।

अब असुरों ने अमृत का पात्र लेकर पीना चाहा। विष्णु ने एक सुन्दर रानी का रूप धारण कर लिया। और वह असुरों के सामने खड़े हो गए। वे इस सुन्दर स्त्री से बड़े आकर्षित हुए और सबसे पहले उसे ही अमृत पान कराने लगे।

जब वे जागृत हुए तो वहां से वह सुन्दर रानी माया विलीन हो चुकी थी। तब देवताओं तथा विष्णु ने अमृत पान किया।

राहु नामक राक्षस भी देवताओं के निकट अमृत-पान करने की आशा से आया और जब वह अमृत अपने मुख में डाल ही रहा था कि विष्णु ने उसका सिर उसके धड़ से अलग कर दिया। किन्तु अमृत की कुछ बूंदों के प्रभाव से उसका सिर अमर हो गया। इस प्रकार वह आकाश में उड़ गया और वहां वह आज पर्यन्त अपना दुष्प्रभाव दिखलाता है। वह समय-समय पर कभी सूर्य तो कभी चन्द्रमा को निगल लेता है, तब पृथ्वी पर अन्धकार छा जाता है।

अमृत के लिए देवासुर संग्राम हुआ। इसमें देवताओं की विजय हुई और अमृत उन्हें को मिला।

यह एक पौराणिक कथा है। इसमें सत्यता की खोज करना व्यर्थ है; क्योंकि यह सहयोग अथवा पारस्परिक सहायता के महत्व को दिखलाने के लिए दृष्टान्त मात्र है। भूगोल का प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि चन्द्र-ग्रहण व सूर्य-ग्रहण क्यों होते हैं ? जब पृथ्वी, चन्द्रमा तथा सूर्य चक्कर लगाते हुए एक समानान्तर में आ जाते हैं, तभी ऐसा होता है।

किन्तु हमें यहाँ इस कथा की सत्यता की खोज करना अभिप्रेत नहीं है। हमारा तात्पर्य तो यह दिखलाने का है कि संसार में प्रगति एवं मानव-कल्याण के लिए सभी मनुष्यों को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए। पारस्परिक सहयोग के बिना हम एक क्षण भी सुखी नहीं रह सकते। पति-पत्नी, माता पुत्री, पिता-पुत्र आचार्य-शिष्य, बन्धु-बांधव, मजदूर-मालिक, राजा-प्रजा, नगर-पिता तथा नागरिकों के बीच सहयोग होना चाहिए। यदि इनमें परस्पर सहयोग नहीं होगा तो न दाम्पत्य जीवन सुखी हो सकेगा, न पारवारिक जीवन और न नागरिक जीवन ही सुखी हो सकेगा।

आपको अमृत की खोज में समुद्र-मंथन की आवश्यकता नहीं है। अमृत आपके निकट है। जिस गृह में, जिस परिवार में, जिस नगर में, जिस ग्राम में, जिस कारखाने में, जिस कृषि-क्षेत्र में परस्पर मनुष्यों में सहयोग है, सामंजस्य, वहाँ अमृत है। सहयोग ही अमृत है।

अध्याय १५

शिक्षा और संस्कृति

मानव-जीवन के कल्याण तथा मानवता की प्रगति के लिए शिक्षा और संस्कृति की अत्यन्त आवश्यकता है। शिक्षा एवं संस्कृति से शून्य मानव निरा पशु है। अतः ईश्वर ने मनुष्य को विवेक-बुद्धि का जो प्रसाद दिया है, उससे पूरा लाभ उठाने के लिए शिक्षा ही अमोघ और एक मात्र साधन है।

हमारे देश में प्राचीन-काल में नगर व ग्राम से दूर बालकों की शिक्षा के लिए आश्रम होते थे। गुरु तथा गुरुपत्नी इन आश्रमों का संचालन करते थे। बालक इन आश्रमों में वैसे ही रहते थे, जैसे परिवारों में; इसलिये इन्हें गुरुकुल कहा जाता था। बालिकाओं—कन्याओं के लिए प्रथक कन्या गुरुकुल होते थे, जिनमें आचार्य तथा गुरुपात्नियां कन्याओं को शिक्षा देती थीं।

आधुनिक समय में गुरुकुलों का स्थान स्कूल, कालेजों व विश्व-विद्यालयों ने ले लिया है। शिक्षा-संस्थाओं में विद्यार्थी और छात्राएँ अध्ययन करते हैं। प्रथम प्राथमिक शालाओं में, जिन्हें बेसिक स्कूल कहा जाता है, वे शिक्षा पाते हैं; उसके बाद माध्यमिक स्कूलों में और फिर कालेज तथा विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं।

शिक्षा का उद्देश्य क्या है? वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य को इस योग्य बना देना है कि वह किसी न किसी प्रकार राज्य के अन्तर्गत कोई नौकरी प्राप्त कर सके। लार्ड

मैकाले ने जब भारत की शिक्षा-प्रणाली की योजना तैयार की, तब उसका ध्येय यही था कि अङ्गरेज शासकों को ऐसे शिक्षित भारतीय पर्याप्त संख्या में प्राप्त हो सकें, जो बाहर से देखने में भारतीय हों, किन्तु जिनका हृदय और मस्तिष्क अँग्रेजी हो।

वह भारत में क्लर्क उत्पन्न करना चाहता था। इसलिए अङ्गरेजी शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया। लार्ड मैकाले की इस नीति में उसका एक सांस्कृतिक ध्येय छिपा हुआ था। वह भारतीयों पर आंग्ल सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव डालकर उनमें भारतीय संस्कृति, भारतीय साहित्य एवं भाषाओं के प्रति अरुचि उत्पन्न कर देना चाहता था। इस उद्देश्य में अङ्गरेजों को एक सीमा तक सफलता मिली। किन्तु आर्य-समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द, रामकृष्ण-परमहंस मिशन के स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि के सांस्कृतिक नव-जागरण के कारण वे भारतीय हृदय पर विजय नहीं पा सके। सन् १९२० में जब महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया, तब उन्होंने भारतीय संस्कृति तथा आदर्शों की प्राण-प्रतिष्ठा एवं पुनर्जागरण के लिए भगीरथ प्रयास किया।

महात्मा गांधी ने देश की संस्कृति के पुनर्निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया और भारतीय राजनीति में नीति (Ethics) को स्थान देकर सार्वजनिक जीवन को विशुद्ध बनाने का प्रयास किया। उन्होंने राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार व अभिवृद्धि, नैतिक एवं सामाजिक सुधार के साथ-साथ शिक्षा में भी क्रान्तिकारी सुधार किए।

महात्मा गांधी ने सन् १९३७-३८ में वर्धा में शिक्षकों का एक सम्मेलन आमंत्रित किया और अपनी नवीन शिक्षा-योजना

उसके समक्ष उपस्थित की, जिसे सम्मेलन ने स्वीकार किया। यह वर्धा शिक्षा योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार बालकों को शिक्षा किसी प्रमुख उद्योग के आधार पर देनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने सर्व प्रथम औद्योगिक शिक्षा पर जोर दिया। आज समस्त भारत में बेसिक शिक्षा प्रणाली प्रचलित है।

हमारे विश्वविद्यालय की शिक्षा में भी क्रान्तिकारी सुधार करने के लिए दर्शनाचार्य डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय कमीशन विचार कर रहा है।

इस समय सबसे मुख्य प्रश्न यह है कि विद्यार्थियों को प्राथमिक शिक्षा उनकी मातृभाषा में दी जाय। कालेज तथा हाई स्कूल की शिक्षा प्रान्तीय या प्रादेशिक भाषाओं (Regional languages) में दी जाय। विश्व-विद्यालय की शिक्षा देश की राष्ट्रभाषा में दी जाय। हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा बनने की पूरी क्षमता रखती है। हिन्दी भाषा-भाषियों का क्षेत्र व्यापक तथा संख्या सबसे अधिक है। संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रान्त व वरार, पंजाब, देहली, राजस्थान, विंध्य प्रदेश, मध्य भारत में हिन्दी राज्य-भाषा के रूप में स्वीकृत है। केवल मद्रास, गुजरात तथा बंगाल—ये तीन प्रान्त ही मुख्यतः ऐसे हैं, जो अहिन्दी प्रान्त हैं। किन्तु इन प्रान्तों में भी हिन्दी की प्रगति आशा-जनक है।

भारतीय विधान परिषद् (Constituent Assembly) ने हिन्दी राष्ट्र भाषा स्वीकार करली है। किन्तु पन्द्रह वर्ष तक अंग्रेजी का प्रयोग जारी रहेगा।

इस प्रकार जब हमारे स्कूलों व कालेजों में मातृभाषा में शिक्षा दी जाने लगी, तो इससे विद्यार्थी-समुदाय को लाभ होगा। जो शक्ति व समय वे विदेशी भाषा व उसकी व्याकरण के सीखने में लगाते थे, उसका उपयोग निज भाषा द्वारा ज्ञान-अर्जन करने में करेंगे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि अंग्रेजी भाषा का महत्त्व ही नहीं रहेगा। वह एक श्रेष्ठ अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। अतः हमें अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में उसका प्रयोग करना ही पड़ेगा।

इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में नव-निर्माण के साथ-साथ भारत में सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की ओर भी प्रयत्न हो रहा है। चित्रकला, स्थापत्य-कला, संगीत तथा नृत्य-कला के विकास तथा उन्नयन की ओर भारतीय कलाकार प्रयत्नशील हैं।

गत १०-१५ वर्षों में चित्र-कला, संगीत तथा नृत्य-कला के विकास में आशातीत सफलता मिली है। विश्व-विख्यात नृत्य-कलाविशारद श्री उदयशंकर तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती अमलानन्दी (जो स्वयं भी लक्ष्मी-कोटि की नर्तकी हैं) ने नृत्य व संगीत को आधुनिक युग के अनुरूप बना कर इस क्षेत्र में अनुपम क्रान्ति की है।

देश में शिक्षा तथा सांस्कृतिक प्रगति राज्य की सहायता के बिना संभव नहीं। जब राज्य उद्योग-धंधों, व्यापार-वाणिज्य एवं प्रामोद्योगों के विकास के लिए हर प्रकार के साधन एवं सहायता प्रदान करता है, तब शिक्षा-प्रसार व संस्कृति के प्रसार के लिए भी राज्य को पूरी सहायता देनी चाहिए। इस संबंध में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक तथा पत्रकार श्री पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है :—

“जहाँ हमारी सरकार युद्ध विभाग के लिए इस वर्ष (सन् १९४६-४७) एक अरब ५५ करोड़ रुपये खर्च करेगी, वहाँ सांस्कृतिक-कार्य के लिए कुल जमा एक लाख रुपये रखा गया है ! इस प्रकार ‘शास्त्र’ के मुकाबले शास्त्र का मूल्य १५५०० गुना है। फौजी अफसरों को जितना वेतन मिलता है, उसका अर्धा तिहाई भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ सम्पादक को न मिलता होगा।”*

इस प्रकार चतुर्वेदीजी ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि साहित्यकारों, लेखकों, पत्रकारों को कोई योजना तैयार कर देश में सांस्कृतिक पुर्ननिर्माण का कार्य करना चाहिए।

संक्षेप में हमारी शिक्षा के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

- (१) शिक्षा के द्वारा तरुण नागरिकों को सच्चरित्र बनाया जाय; वे उदारता, दया, सहानुभूति, प्रेम आदि सद्गुणों का अपने जीवन में विकास करें;
- (२) विद्यार्थियों में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की भावना को विकसित किया जाय; वे सदैव प्रत्येक वस्तु में सत्य व सौन्दर्य का दर्शन करें और असुन्दर व अशिव का परित्याग।
- (३) विद्यार्थी प्राचीन सांस्कृतिक तथा साहित्यिक देन को बड़ी श्रद्धा के साथ सुरक्षित रखें और प्राचीन साहित्य में जो ग्राह्य है, उसे ग्रहण करें और वर्तमान युग के लिए जिस की आवश्यकता है, उसे जन्म दें। प्रत्येक पुरानी वस्तु न तो

* बनारसीदास चतुर्वेदी : ‘हमारा स्वधर्म’ विध्यवासी से नवा-समाज (कलकत्ता) जुलाई १९४६ में उद्धृत।

त्याज्य है और न ग्राह्य ही है और उसी प्रकार प्रत्येक नवीन वस्तु न त्याज्य है और न ग्राह्य ही ।

- (४) प्रत्येक विद्यार्थी को अंध-श्रद्धा, अध-भक्ति और अध-विश्वास से सदैव दूर रहना चाहिए । इसके लिए वह अपनी विवेक-बुद्धि और तर्क-शक्ति का उपयोग करे ।
- (५) प्रत्येक विद्यार्थी को श्रम का महत्व समझ लेना चाहिए । शिक्षित व्यक्ति के लिए हाथ से काम करना (Manual labour) लज्जा की बात नहीं है; अपितु इस वैज्ञानिक युग में जब कि औद्योगिक विकास इतनी चरम-सीमा तक हो रहा है, देश को ऐसे तरुण कर्मवीर युवकों की आवश्यकता है, जो अनेक प्रगतिशील उद्योगों, व्यवसायों, तथा कार्यों में, जिस कार्य के वे योग्य हों, अपना सहयोग दे सकें ।
-

अध्याय १६

समाज

अनेक परिवारों से मिल कर समाज की उत्पत्ति होती है। समाज—मानव-समाज अति व्यापक शब्द है। इसके अन्तर्गत राष्ट्र-समूह आ जाते हैं। समाज, वास्तव में, सुसंगठित व्यक्तियों के समूह का नाम है। सुसंगठित व्यक्तियों का कोई सामान्य उद्देश्य होता है और उसकी प्राप्ति के लिए वे सब प्रयत्न करते हैं।

अतः परिवारों को चाहिए कि वे अपना व्यापक दृष्टि-कोण रखें और कोई ऐसा कार्य न करें जिससे समाज के विकास में बाधा पड़े। वास्तव में उचित तो यह है कि व्यक्ति परिवार के लिए अपने स्वार्थ का बलिदान करें और परिवार समाज के लिए अपने स्वार्थों का बलिदान करें।

इस प्रकार पारिवारिक जीवन के छोटे से दायरे में व्यक्ति जिन सद-गुणों का विकास करता है, उनके प्रयोग के लिए उसे सामाजिक क्षेत्र में अनेक सुयोग मिलते हैं। समाज में वह अपने उन गुणों का और भी अधिक विकास कर सकता है।

समाज का संगठन किस प्रकार का हो, जिससे उसमें व्यक्ति अपना पूर्ण विकास करने के लिए समान सुयोग प्राप्त करते हुए समाज का भी कल्याण कर सके, इस सम्बन्ध में समाज शास्त्रियों (Sociologists) के अनेक प्रकार के मत हैं। हम यहाँ उन सभी मतों के विषय में चर्चा कर इस संबंध में कोई उलझन पैदा करना नहीं चाहते।

हमारे देश में प्राचीन समय से वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था प्रचलित है। वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। गीता तथा वेदों के अनुसार यह चार वर्ण कर्मों के अनुसार हैं। जो जैसा कर्म करता है, वह वैसा ही वर्ण प्राप्त कर लेता है। इस कारण वर्ण ज्ञान तथा कर्म पर आधारित होने के कारण परिवर्तनीय भी हैं। प्राचीन इतिहास से हमें ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे प्रकट है कि ब्राह्मण वर्ण से लोग क्षत्रिय वर्ण में आगए; क्षत्रिय से वैश्य वर्ण में और शूद्र लोग ब्राह्मण पद को प्राप्त हो गए और ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त हो गये। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था एक व्यक्तिगत-साधना थी। व्यक्ति के जीवन को चार भागों में बाँट दिया गया। इन्हें आश्रम कहते थे। जन्म से २५ वें वर्ष तक ब्रह्मचर्य, २५ से ५० वर्ष तक गृहस्थाश्रम, ५० से ७५ तक वानप्रस्थ और ७५ से १०० वर्ष तक सन्यास।

यह प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था भारत में आज कहीं भी प्रचलित नहीं है। इसके स्थान पर आज सहस्रों जातियाँ (Castes) तथा उप-जातियाँ विद्यमान हैं और प्रति वर्ष इनकी वृद्धि होती जा रही है। ब्राह्मणों में कई सहस्र जातियाँ व उप-जातियाँ हैं। इसी प्रकार क्षत्रियों में भी सैकड़ों जातियाँ हैं; वैश्यों में भी कुछ कम जातियाँ नहीं हैं। शूद्र कहाने वालों में भी जातियों की कमी नहीं है। यहाँ तक कि आज जो जातियाँ दलित जातियाँ या परिगणित जातियों (Scheduled Castes) कहलाती हैं जिन्हें, गांधीजी हरिजन कहते थे, उनमें भी सैकड़ों जातियाँ हैं और वे एक दूसरी से सर्वथा भिन्न हैं।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि भारतीय समाज हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, ऐंग्लो इण्डियन, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि

साम्प्रदायिक समुदायों में विभाजित है। हिन्दू समाज में अनेक जातियाँ हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों धार्मिक मत एवं सम्प्रदाय भी हैं, जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे समाज का संगठन इन जातियों तथा उप-जातियों एवं अनेक धार्मिक मतमतान्तरों के कारण बिगड़ गया है।

वर्तमान समय में इन जातियों का कोई भी मूल्य नहीं रहा है। महात्मा गाँधी ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह स्वीकार किया था कि जात-पात के रहते हुए हिन्दू-समाज जीवित नहीं रह सकता और न वह प्रगति ही कर सकता है। हमारे देश की सरकार के प्रधान-मंत्री माननीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक “भारत की खोज” (Discovery of India) में स्पष्ट रूप में जात-पात की प्रथा को प्रजातंत्र के विरुद्ध माना है।* भारतवर्ष में जिस प्रकार की जात-पात मिलती है वैसी किसी भी देश में नहीं। हमारे देश में दलित-जातियों की उत्पत्ति भी जाति-भेद के फल-स्वरूप हुई है; समाज में उनका स्थान सबसे निम्नतम है। किन्तु दलित जातियों में भी जात-पात का भयंकर रोग व्याप्त है। उनमें भी मेहतर,

* “In the context of society, the Caste system and much that which goes with it are wholly incompatible, reactionary, restrictive and barrier to progress. There can be no equality of status and opportunity within its frame work, nor can there be political democracy and much less economic democracy. Between these two conceptions conflict is inherent and only one of them can Survive.”

—Pandit Jawahar Lal Nahru's “The Discovery of India” p. 218.

बाह्मीकि अथवा भंगी का दर्जा सबसे नीचे का है। इस प्रकार उनसे ऊँचे शूद्र हैं। कहार, लुहार, कुम्हार, तेली, तमोली, कलधार, कोली आदि। शूद्रों से उच्च वैश्य हैं— (अग्रवाल, ओसवाल आदि) और इनसे ऊपर राजपूत तथा ठाकुर और ब्राह्मण सर्वोच्च माने जाते हैं। इन ब्राह्मणों तथा राजपूतों में भी सहस्रों जातियाँ हैं, जो अपने को एक दूसरे से ऊँची या नीची मानती हैं।

अतः ऐसे समाज में जिसमें जातियों को उच्च व निम्न माना जाता है, जिसमें व्यक्तियों के गुणों, विद्या व योग्यता का कुछ भी विचार नहीं किया जाता, प्रजातन्त्र का विकास कैसे संभव हो सकता है।

अतः यदि भारत में प्रजातन्त्र का विकास करना है और देश में ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें किसी प्रकार की कोई जाति न हो तथा सब व्यक्तियों को, जातियों को नहीं, समान रूप से अपने विकास के लिए साधन प्राप्त हों, तो हमें जात-पात का समूल नाश कर देना ही होगा।

आपको यह तो विदित ही होगा कि भारत सरकार के सूचना तथा ब्राडकास्टिंग विभाग के मंत्री श्री आर. आर. दिवाकर की अभ्युत्थता में एक जांच-समिति नियुक्त करदी है जो इस बात की जांच करके अपनी रिपोर्ट सरकार को देगी कि भारत सरकार के आधीन पदों पर नियुक्ति करते समय किसी भी उम्मीदवार से जात-पात न पूछी जाय और न इसका विचार ही किया जाय।

संयुक्त प्रांत की सरकार ने भी स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचनों में मत-दाताओं की सूची से जाति का कालम निकाल देने का निश्चय किया है। शिक्षा-संस्थाओं में भी जात-पात का उल्लेख आवश्यक नहीं रहा है।

देश में औद्योगीकरण की वृद्धि तथा वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार के फलस्वरूप जात-पात पर प्रभाव पड़ेगा और वह एक सीमा तक शिथिल हो जायगी। किन्तु हमारे विचार में इस संस्था को समूल नष्ट करने के लिए राज्य तथा समाज को सहयोग-पूर्वक प्रयत्न करना पड़ेगा।

—————

अध्याय १७

सम्पत्ति

संसार में सम्पत्ति का सदैव महत्त्व रहा है। सामाजिक जीवन में उसका उचित स्थान रहा है; किन्तु वर्तमान आर्थिक युग में सम्पत्ति का मूल्य, प्रभाव और अधिकार अत्यधिक बढ़ गया है। प्राचीन काल में हमारे देश में मानव-कल्याण, समाज का हित व्यक्तियों का लक्ष्य था और सम्पत्ति उसके लिये एक साधन मात्र थी। उस युग में हमारे जीवन-दर्शन में नैतिक मूल्यों (Moral Values) का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। किन्तु समय ने पलटा स्वाया और आज हम यह देखते हैं कि व्यक्ति न्याय, धर्म, कर्म और मानवता का परित्याग कर सम्पत्ति के पीछे पागल हो रहे हैं, मानों यही मनुष्य का साध्य हो; मानो यही मनुष्य के लिए स्वर्ग की कुञ्जी हो। आज थोड़े-से व्यक्ति सम्पत्ति का संग्रह करने को अपना प्रधान लक्ष्य मानते हैं; आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति संग्रह करके अपने जीवन को अधिकाधिक विलास-पूर्ण बनाने की ओर प्रवृत्त हैं; दूसरी ओर करोड़ों की संख्या में देशवासी भर पेट न तो अन्न प्राप्त कर सकते हैं और न उनके लिये पर्याप्त बस्त्र, तथा रहने के लिए अच्छे मकान ही हैं। बम्बई, कलकत्ता, लखनऊ, कानपुर, दिल्ली जैसे नगरों में सम्पत्ति-शालियों के वैभव, विलास और वित्तेषण के चमत्कारों को देख जब हम उनकी तुलना छोटे नगरों व ग्रामों में किसान मजदूरों के भौंपड़ों से करते हैं, तब स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि सम्पत्ति के पीछे अन्याय है। न्या

कारण है कि किसान-मजदूर असली सम्पत्ति (अन्न, वस्त्र तथा सब ही जीवनोपयोगी वस्तुओं) का उत्पादन करते हुए भी इतने निर्धन, गरीब और सम्पत्ति-हीन हैं? क्या यह भूमि, यह पर्वत, यह वन-प्रदेश और भूमि के भीतर की सम्पत्ति सोना, चांदी, कोयला, तेल आदि प्रकृति की देन नहीं है? ये सब प्राकृतिक सम्पत्ति है और इस पर समस्त मनुष्यों का समान अधिकार होना चाहिए।

किन्तु हम यह देखते हैं कि इन पर समाज के अल्पमत—थोड़े से व्यक्तियों के एकाधिकार हैं, वे इनके स्वामी बने हुए हैं और शेष करोड़ों की जनता के पास केवल श्रम है जिसके द्वारा वह इनके स्वामियों की सेवा करती है और वे स्वामी उन्हें मजदूरी देते हैं, जिससे प्रतिदिन वे खेत या, कारखाने में काम करके सम्पत्ति में वृद्धि करते हैं।

इस प्रकार सम्पत्ति, वास्तव में, करेंसी नोट, रुपया, पैसा नहीं है। क्योंकि रुपये-पैसे से जीवन-रक्षा नहीं हो सकती। उसका उपयोग तो केवल विनिमय (Exchange) के रूप में ही होता है। एक किसान के पास १०० मन गेहूँ हैं; उसे पचास गज कपड़े, एक टन लोहे और १०० वर्गफुट लकड़ी की आवश्यकता है, तो वह बजाज और लकड़ी के व्यापारी के पास गेहूँ लेकर नहीं फिरेगा; इसके लिए वह गेहूँ को किसी अन्न-व्यापारी को बेचकर नोट तथा रुपये में परिणत कर लेगा और फिर उनके द्वारा यह अपनी उपरोक्त वस्तुयें खरीद सकेगा। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि रुपया तो केवल वस्तु-विनिमय का साधन मात्र है; यह स्वयं सम्पत्ति नहीं है। किन्तु आप लोगों से पूछें कि सम्पत्ति क्या है, तो उनका ध्यान अन्न, वस्त्र, लोहा लकड़ आदि की ओर न जाकर नोटों, रुपयों तथा सोने चांदी की ओर

ही जायगा। इस प्रकार जनता में सम्पत्ति के प्रति एक धारणा बन गई है।

एक पुरानी अरबी कथा में यह बताया गया है कि यहूदियों के राजा डेविड जब एक गुहा में घुमे तो उसमें एक मृत पुरुष मिला, जिसके सिर पर एक पट्टिका टँगी थी। इस पर निम्न प्रकार का लेख था :—

“मेरा नाम..... है और मैं..... राजा का पुत्र हूँ; मैं १००० वर्ष जीवित रहा; १००० नगरों का निर्माण किया और १००० सेनाओं को परास्त किया। अन्त में मुझे जब रोटी की आवश्यकता पड़ी तो मैंने एक टोकरी भर कर सिक्के एक रोटी के खरीदने के लिये भेजे; किन्तु रोटी नहीं मिली। तब एक टोकरी भर कर रत्न भेजे, तब भी मुझे एक रोटी नहीं मिली। तब मैंने रत्न जवाहिरातों को एक स्थान पर जमा कर कुचल डाला और उन ही धूल चारों दिशाओं में उड़ा दी और इसी स्थान पर प्राण-त्याग दिए। जिस किसी के पास एक रोटी है और वह यह सोचता है कि कोई दूसरा व्यक्ति उससे अधिक धनी है, तो उसे मेरी भांति मर जाना ही उचित होगा।”

इस कथा से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के पास असंख्य रत्न-जवाहिरात, सुन्दर राजभवन, असंख्य सेना और द्रव्य होने पर भी रोटी के अभाव में दुःखी और गरीब है। ऐसे व्यक्ति को कौन धनी कहेगा, जो एक रोटी के अभाव में मर गया।

रावण बड़ा प्रभाव-शाली राजा था; लंका का वैभव-दर्शनीय था। सुन्दर भव्य राजभवनों की शोभा बड़ी मनोहर

थी। नगर में बड़ी सुन्दरी बाटिकाएँ, जलाशय और क्रीड़ा-क्षेत्र थे, जिनमें नगर-वासी मनोरंजन करते थे। किन्तु रावण में सम्पत्ति के संबंध में बड़े बुरे विचार थे। उसमें अहंकार था और इसके वशीभूत होकर उसने सीता का हरण किया और इस प्रकार अपने नाश का बीज बो दिया। रावण की सम्पत्ति से किसी का कल्याण नहीं हुआ और उसकी सुवर्ण लंका भस्मीभूत हो गई।

इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि सोना, चाँदी, करेंसी नोट, रुपये आदि वास्तव में सम्पत्ति नहीं हैं, क्यों कि जबतक मनुष्य के श्रम द्वारा अन्न, वस्त्र तथा मकान आदि प्राप्त न हों, तबतक नोटों का मूल्य कुछ भी नहीं। इसलिए मानव-शक्ति अथवा श्रम ही असली सम्पत्ति है।

यदि किसी सुन्दर वस्तु से आपका मनोरंजन हो, आपका चित्त प्रसन्न हो, किन्तु उसके निर्माण में मनुष्यों के स्वास्थ्य का विनाश हो; तो उसे हम सम्पत्ति नहीं कह सकते क्यों कि सम्पत्ति समाज के सुख के लिए होनी चाहिए, उसके विनाश के लिए नहीं।

एक विद्वान लेखक ने लिखा है—

“संसार की सम्पत्ति का निर्माण मानव-श्रम, उसके हाथ, दिमाग और आँखों के श्रम से होता है। मानव श्रम द्वारा खेतों, कारखानों और वर्कशाप में जिन वस्तुओं का निर्माण किया जाय, वे मजदूरों तथा उपभोक्ताओं के लिए आशीर्वाद हों अन्यथा समुचित अर्थ में उन्हें सम्पत्ति नहीं कहा जा सकता।

“सम्पत्ति मनुष्यों के स्वास्थ्य एवं कार्य-शीलता को बनाये रखे, जिससे प्रति दिन वे एक दूसरे की सेवा कर सकें, क्योंकि

संसार में प्रत्येक मनुष्य को सार्वजनिक सामान्य हित साधन करना चाहिए ।

“सम्पत्ति मनुष्यों के स्वास्थ्य तथा कार्य-क्षमता को कायम रखे जिससे वे सुन्दर वस्तुओं का दर्शन कर सकें और उन्हें प्रेम कर सकें सुन्दर भवन, स्थापत्य-कला, चित्र-कला, काव्य-कला सुन्दर प्रवचन, संगीत और अपनी धरती माता के सुन्दर दृश्य ।

“सम्पत्ति मनुष्यों के स्वास्थ्य और कार्य-क्षमता को बनाए रखे जिससे वे दुनिया को अपनी विमल बुद्धि और विवेक द्वारा समझ सकें और उसका सदुपयोग कर सकें और संसार में अपने कर्तव्य का पालन कर सकें ।

‘सम्पत्ति मनुष्यों के स्वास्थ्य तथा कार्य-क्षमता को कायम रखे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार, अपने ग्राम, अपने नगर या राज्य में कोई उपयोगी काम कर सके ।

“अपने ही भण्डार में धन जमा करते जाना ही सम्पत्ति नहीं है जब कि पड़ौसी मर रहे हों ।”

“सम्पत्ति उसी समय सम्पत्ति कही जा सकती है, जब कि वह जीवन, स्वास्थ्य और बंधुत्व का समर्थन करती हो और धन जीवन, स्वास्थ्य तथा बंधुत्व की सेवा के लिए ही प्रयोग में आना चाहिए ।”

अध्याय १८

श्रम का महत्व

जीवन में श्रम का बड़ा महत्व है। श्रम का अर्थ है अपनी रचनात्मक शक्तियों का प्रयोग। श्रम दो प्रकार का होता है, एक मानसिक और दूसरा शारीरिक। इन दोनों में श्रेष्ठता एवं निम्नता का कोई भेद नहीं है। संसार में कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसमें इन दोनों प्रकार के श्रम की आवश्यकता न पड़े। यह बात दूसरी है कि कुछ कार्यों में मानसिक श्रम की आवश्यकता अधिक और कुछेक के में शारीरिक श्रम की मात्रा अधिक होती है। आज कल कुछेक व्यक्तियों में और विशेषतया शिक्षित कहलाने वाले व्यक्तियों में यह धारणा प्रचलित है कि शरीर से श्रम करना निम्न कोटि का कार्य है। इस कारण जो व्यक्ति शिक्षित हो जाते हैं, वे अधिकांश में शारीरिक श्रम से घृणा करने लगते हैं। किन्तु इस प्रकार का विचार मूर्खतापूर्ण है।

ईश्वर ने अथवा प्रकृति ने मनुष्य को दो प्रकार की इन्द्रियां दी हैं—ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां। आँख, कान, नाक, त्वचा, आदि ज्ञानेन्द्रियां हैं, क्यों कि इनके द्वारा व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है। मुख, हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियां हैं, जिनसे मनुष्य काम करता है। अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपना कार्य करती है। कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो हाथों व पैरों से किए गए कार्य को हीन समझे और आँखों के कार्य को श्रेष्ठ।

आज हमारे देश में ही नहीं संसार में शरीर से श्रम करने वाले श्रमियों की दुर्दशा का मूल कारण है श्रम के महत्व को न समझना है। शरीर द्वारा श्रम भी उतना ही मूल्यवान् और उपयोगी है, जितना कि मानसिक श्रम।

एक दार्शनिक विद्वान् दर्शन पर खोज-पूर्ण निबन्ध लिखता है; किन्तु उस निबन्ध का उपयोग समाज के लिए उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक कि वह किसी प्रकाशक द्वारा मुद्रित करा कर प्रकाशित नहीं किया जाय। अब उसे किसी मुद्रणालय में भेजा जायगा। हाथ से श्रम करने वाले कम्पोज़ीटर उसे कम्पोज़ करेंगे, मशीनमैन उसे मशीन पर छापेंगे और फिर जिल्दसाज उसे पुस्तक रूप में सींकर तथा जिल्द बनाकर तैयार करेंगे; मजदूर उस पुस्तक की प्रतियों को बंडलों में बाँध कर अपने सिर पर ढोकर पुस्तक विक्रेता के पास ले जायेंगे। तब पाठक वहाँ से खरीद कर उसका अध्ययन कर सकेंगे। इससे स्पष्ट है कि जितना महत्व का कार्य पुस्तक लेखन का है, उससे कम उसके मुद्रण का काम नहीं है। दोनों के सामंजस्य की आवश्यकता है।

क्या खेतों में काम करके गँहूँ, चावल और कपास पैदा करने वाले किसानों का कार्य, जो हाथ-पैरों से श्रम करते हैं, एक भवन-निर्माण करने वाले इञ्जीनियर या कालेज के प्रोफेसर या रसायनशाला में अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिक से कम महत्त्व का है? सारांश यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने मन और शरीर दोनों से काम करना चाहिए।

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी सदैव हाथ द्वारा श्रम के महत्व पर जोर देते थे। उनका यह विचार था कि राज्य के सर्वोच्च अधिकारी से लेकर एक साधारण किसान तक को चर्खा

अवश्य चलाना चाहिये । वर्धा-शिक्षा-योजना में बेसिक शिक्षा में भी उद्योग की शिक्षा को जो महत्व दिया गया है, उससे भी श्रम का महत्व प्रकट हो जाता है ।

अतः शिक्षित व्यक्तियों को और अशिक्षित व्यक्तियों को भी (हमारे देश में ब्राह्मण खेत जोतने व बोन के काम को नीच समझ कर स्वयं नहीं करते; वे दलित जातियों के किसानों से वेगार में काम लेते हैं !!) हाथों द्वारा श्रम करने में किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं करना चाहिए । जब ब्राह्मण रसोइया के काम में लज्जा अनुभव नहीं करते, जब वे सेना में भरती होकर वहाँ हर प्रकार का शारीरिक परिश्रम करने में लज्जित नहीं होते और जब वे सरकारी कार्यालयों, व न्यायालयों में चपरासी का काम करने में लज्जा अनुभव नहीं करते, तब हल से खेत जोतने में क्यों लज्जा अनुभव करते हैं ? यह एक प्रकार का अज्ञान ही है ।

हमारे देश में जैसे २ औद्योगीकरण की प्रगति होती जायगी, वैसे-वैसे हमारी शिक्षा भी औद्योगिक तथा प्रौद्योगिक (Technical) होती जायगी और यह आप जानते हैं कि ऐसी शिक्षा में शारीरिक श्रम का बड़ा महत्व है । इञ्जीनियर, चाज्मैन, फोरमैन तथा मिस्त्री आदि सबों को हाथ से काम करना पड़ता है ।

समाजोपयोगी किसी भी कार्य के सम्पादन में हमें किसी भी प्रकार से निम्नता की भावना का अनुभव नहीं करना चाहिए और न ऐसे किसी कार्य को घृणाजनक मानना चाहिए ।

जिन कार्यों से समाज की हानि होती है, समाज के व्यक्तियों के जीवन, स्वास्थ्य, सदाचार एवं धर्म-भावना को हानि पहुँचती है, वे सभी कार्य त्याज्य हैं; जैसे हिंसा, चोरी, बलात्कार आदि ।

अध्याय १६

उद्योग

उद्योग का साधारण अर्थ है प्रयत्न, प्रयास या चेष्टा। जीवन का गुण है प्रगति और प्रगति में चेष्टा व प्रयत्न का भाव निहित है। इस प्रकार जहाँ जीवन है, वहाँ चेष्टा और प्रयत्न भी है। किन्तु वर्तमान आर्थिक जगत में उद्योग शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। इस अर्थ में उद्योग से तात्पर्य ऐसे धंधे या कारोबार से है जो यंत्र या हस्त-कौशल अथवा दोनों के द्वारा किए जाते हैं। इस प्रकार चर्खा चलाना एक उद्योग है, मिल या कारखाने में, जिसमें यंत्रों के सहारे वस्त्र बुनने का काम होता है, एक उद्योग है। कृषि को एक व्यवसाय माना जाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक व्यवसाय हैं। कृषि तथा उद्योग-जन्य उत्पादन के क्रय-विक्रय की जो व्यवस्था की जाती है, उसे वाणिज्य व्यापार कहते हैं। शिक्षक, वकील, चिकित्सक आदि के कार्यों को व्यवसाय कहते हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि जीविकोपार्जन के प्रमुख साधन—कृषि, उद्योग, व्यापार, व्यवसाय (Profession) तथा राज्य आदि के अधीन सेवा-कार्य (Services) ही हैं।

समाज की प्रगति के लिए उद्योग परम आवश्यक हैं। हमारा देश कृषि-प्रधान देश है। आज भी हमारे देश में ८०% व्यक्ति ग्रामों में रहते हैं और वे कृषि, पशुपालन तथा अन्य ग्रामोद्योगों के द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। शेष २०% जनता नगरों

में रहती है। इस प्रकार हमारे देश में सबसे बड़ी संख्या कृषि करने वालों की है।

द्वितीय युद्ध के समय से देश के सामने सबसे विकट प्रश्न खाद्यान्न का है। हमारे देश में, युद्ध से पूर्व, केवल चावल ही ब्रह्मदेश से आता था। साधारणतया शान्ति काल में गेहूँ आदि पर्याप्त थे। किन्तु युद्ध-समय से खाद्यान्न की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। अगस्त १९४५ में युद्ध समाप्त हो गया; किन्तु आज भी भारत के नगरों में अन्न का राशन प्रचलित है।

हमारे देश के नेताओं तथा राज्य-मन्त्रियों का ध्यान खाद्य की समस्या को हल करने में लगा हुआ है। आज भी हम अपने गेहूँ, ज्वार, चावल आदि के लिए अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों परनिर्भर हैं। भारत सरकार प्रतिवर्ष १३० करोड़ रुपये से भी अधिक धन बाहर से अन्न मँगाने पर सहायता के रूप में खर्च करती है। इस प्रकार यह एक बड़ी धन-राशि डालरों के रूप में खर्च होती है। इस प्रकार डालर-निधि में कमी पड़ जाती है और भारत अन्य आवश्यक चीजें नहीं मँगा सकता।

भारत में गत २०-२५ वर्षों में उद्योगों का भी विकास हुआ है और गत युद्ध में प्रत्येक उद्योग में काफी विकास हुआ। इस प्रकार जहाँ तक वस्त्र का प्रश्न है, भारत में इस व्यवसाय ने काफी प्रगति की है और जहाँ तक वस्त्र का प्रश्न है भारत में सूती मिल तथा हस्त-कौशल द्वारा वस्त्रोत्पादन भारतीय जनता की आवश्यकता के लिए पर्याप्त है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अभी इस दिशा में प्रगति के लिए स्थान नहीं है। हमारे मिलों में बढ़िया, टिकाऊ और उत्तम वस्त्र तैयार करने की व्यवस्था होनी चाहिए। मूल्य में भी अभी पर्याप्त कमी होनी चाहिए।

ग्रामोद्योगों में खादी को विशेष स्थान प्राप्त है। महात्मा गांधीजी ने खादी को रचनात्मक कार्य-क्रम में सर्वोच्च स्थान दिया और यह उन्हीं के सद् उद्योग एवं प्रेरणा का फल है कि भारत के इस प्राचीन उद्योग का पुनर्जीवन हो गया। आज खादी राष्ट्रीय सम्मान का प्रतीक मानी जाती है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेने की आवश्यकता है कि खादी से तात्पर्य केवल मोटे सूत के साधारण से वस्त्र से नहीं है। गांधीजी की कल्पना के अनुसार खादी उम वस्त्र का नाम है जो हाथ से कता बुना गया हो। इस प्रकार खादी रेशमी, सूती और ऊनी हो सकती है। वह मिल के बारीक से बारीक वस्त्र से भी बड़ कर हो सकती है।

प्राचीन भारत में वस्त्र हाथ के कर्घे से बुने जाते थे और वे इतने सुन्दर, बारीक तथा मुलायम होते थे कि विदेशों की महिलाएँ उन्हें अपनी पोशाकों के लिए मंगानी थीं।

“टेलर साहेब ने सन १८४६ में खादी का एक वस्त्र देखा था। वह बीस गज लम्बा और ४५ इंच चौड़ा था; किन्तु उसका वजन केवल ३५ तोले था।” उसी प्रकार ढाका में उन्होंने इतना बारीक सूत देखा कि उसकी लम्बाई १३४६ गज थी; किन्तु उसका वजन केवल २२ ग्रेन था! आज कल की पद्धति के हिसाब से उसका नम्बर ५२४ निकलता है।”

औरंगजेब की राजकुमारी जेबुन्निसाँ एक समय इतना बारीक वस्त्र पहने हुई थी कि उसका सारा शरीर नंगा दिखाई देता था। लड़की को ऐसी स्थिति में देखकर औरंगजेब को उस पर बड़ा क्रोध आया। इस पर उसने जवाब दिया—“शहंशाह, मैं अपने बदन पर सात कपड़े पहने हूँ।”

इस प्रकार भारत में आज से सदियों पूर्व बड़े सुन्दर वस्त्र तैयार होते थे। किन्तु जब अंग्रेज यहाँ आये, तो उन्होंने अपने उद्योग-धन्धों के विकास के लिए यहाँ के धन्धों को नष्ट कर डाला और अनेकों प्रकार से यहाँ के ग्रामोद्योग तथा खादी व्यवसाय को नष्ट कर दिया। महात्मा गांधीजी ने सन् १९२० से खादी के प्रचार को अपना मुख्य ध्येय बनाया और सन् १९३४ में उन्होंने ग्रामों में उद्योगों के पुनर्जीवन के लिए “अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ” की स्थापना की। अखिल भारतीय चर्खा-संघ भारत में खादी के निर्माण का प्रयत्न कर रहा है।

भारत में औद्योगीकरण की आवश्यकता को सभी अनुभव करते हैं। आज तो भारत सरकार अमेरिका से बड़े-बड़े ट्रैक्टर (खेती करने की मशीनें) मंगा कर उनके द्वारा सामुहिक ढंग पर खेती करने के लिए प्रयत्न कर रही है। इस प्रकार कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिए प्रयत्न जारी है।

गत-वर्ष के बजट अधिवेशन में राष्ट्रीय केन्द्रीय सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति स्पष्ट कर दी। इसके अनुसार आगामी दस वर्षों तक वर्तमान उद्योगों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) नहीं किया जायगा और वर्तमान उद्योग व्यक्तिगत पूँजीपतियों के अधिकार में रहेंगे। दस वर्ष के बाद सरकार पुनः यह विचार करेगी कि कौन-कौन से उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय। जो प्रचलित उद्योग हैं, उनकी अभिवृद्धि एवं विकास के लिए सब प्रकार की सुविधायें देगी। बड़े-बड़े बॉथों की योजनायें भारत-सरकार ने बनाई हैं। इनके अनुसार विविध प्रान्तों में जलशक्ति के लिए जलाशय बनाये जायेंगे और इस प्रकार विद्युत उत्पन्न कर उसका प्रयोग औद्योगिक

विकास व सिंचाई लिए किया जायगा। सरकार ने व्यक्तिगत उद्योग (Private enterprise) के लिए पर्याप्त अवसर एवं सुयोग प्रदान किए हैं।

देश में औद्योगीकरण के साथ-साथ ग्रामोद्योगों की बड़ी भारी आवश्यकता है। भारत की ग्रामीण जनता को बड़ी-बड़ी मिलों से लाभ नहीं होगा। नगरों में औद्योगिक विकास साथ-साथ ग्रामों में भी छोटे छोटे गृह-शिल्पों का विकास करना होगा। इस संबंध में भारत जापान से शिक्षा ले सकता है।

जापान में सूती रेशमी वस्त्र व्यवसाय, सायकिल, रबड़, बिजली के सामान, घड़ियां, फोटो खींचने के केमरा, फाउन्टेन पेन गिला-सलाई आदि के उद्योग छोटे-छोटे उद्योगों व गृह-उद्योगों के रूप में हैं। सुप्रसिद्ध भारतीय पत्रकार श्री चमनलाल ने जापान की हाल में यात्रा करने के बाद अपने एक लेख में लिखा है।

“जापान के आर्थिक जीवन में उसके गृह-शिल्प का विशेष योगदान है। जापान के ग्रामों में ४०,००० गृह-उद्योग शालाएँ (Home factories) हैं। जब किसान कोई काम नहीं करते, तब उस समय ने इनमें काम करते हैं। सन् १९३७ में २५ प्रतिशत किसानों को गृह-शिल्प शालाओं में काम मिला।

सन् १९४६ में यह प्रतिशत संख्या बढ़ कर ४६.४ हो गई।

अनेकों युद्ध संबंधी कारखानों में काम करने वाले मजदूर किसान बन गए हैं। मैंने तीन ग्रामों का निरीक्षण किया। इनमें बाँस कागज तथा लोहे के उद्योग संबंधी ३२०० कारखाने थे। प्रायः प्रत्येक घर कारखाना था। एक ग्राम में १००० घर हाथ से कागज बनाने के उद्योग में लगे हुए थे। जापान की सरकार ने इन ग्रामोद्योगों की शिक्षा के लिए शिक्षण-शालाएँ स्थापित की हैं।

“एक दूसरे ग्राम में १००० घर बांस की सुन्दर चीजें बनाने न व्यस्त थे। पर्दे के लिए खूँटियाँ तथा लेडीज पर्स। अमेरिका में एक पर्स का दाम २० डालर या ६३) मिलता है। लड़कियां एक एक छोटी सी मशीन की सहायता से २० तक पर्दे (जो १६ फीट लम्बे १२ फीट चौड़े होते हैं) एक दिन में बना लेती हैं। जापानी अकेले बांस में से ही १४०० प्रकार की सुन्दर चीजें बना लेते हैं।”*

हमारे देश में भी ग्रामोद्योगों के संगठन, विकास और निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता है।

—————

अध्याय २०

न्याय

समाज को स्थिर रखने के लिए, समाज में सामंजस्य एक मुख्यवस्था कायम रखने के लिए हमें जिस वस्तु की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह है न्याय। न्याय-शीलता तथा न्याय प्रियता समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है और प्रगति स्वाधीन अवस्था में ही संभव है। अतः मानव-समाज की प्रगति के लिए न्याय की आवश्यकता है। न्याय, वास्तव में मानवता का एक सर्वोच्च गुण है। इसके अभाव में समाज में व्यवस्था कायम रह सकती है, न अनुशासन और न समाज के व्यक्ति नियमों का समुचित पालन कर सकते हैं। अतः न्याय के अभाव में राज्य में शासन व्यवस्था के होने पर भी अराजकता ही होती है।

वर्तमान शासन-प्रणाली के अनुसार राज्य का एक प्रमुख कर्तव्य राज्य और प्रजा तथा प्रजा के सदस्यों के बीच न्याय करना है। न्याय-व्यवस्था को विशुद्ध रखना राज्य का परम धर्म है। इसी कारण उच्च न्यायालय, निम्न न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के न्यायाधीश स्वतंत्र रूप से राज्याधिकारियों के अनुचित अधिकार-प्रयोग की भी आलोचना करते हैं। प्रत्येक स्वतंत्र प्रजातंत्रीय राज्य में निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायाधीशों की विद्यमानता उनकी सभ्यता और संस्कृति का लक्षण है।

हमारे देश में यद्यपि उच्च-न्यायालयों की परम्परा आज भी अनुकरणीय और आदर्श है, तथापि जिलों में न्याय-व्यवस्था में अभी पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है। जिले के न्यायाधीशों तथा मजिस्ट्रेटों पर स्थानीय नेताओं—राजनेताओं का प्रभाव रहता है और अनेक अवसरों पर वे राजनीतिक पुरुषों के प्रभाव में आकर अन्याय कर बैठते हैं।

हमारे देश में न्याय निष्पक्ष और सस्ता होना चाहिए। किन्तु हम यह देखते हैं कि भारत की गरीब जनता के लिए न्याय बड़ा मंहगा पड़ता है। न्यायालय में वकील की फीस, कोर्ट फीस तथा विविध मदों में बड़ा रुपया खर्च करना पड़ता है, तब न्यायालय से न्याय मिलता है, फिर भी महीनों तक जिला जज, सेसन्स जज तथा हाई कोर्ट व सर्वोच्च न्यायालय में अपील के लिए लड़ना पड़ता है। साधारण किसान मजदूर तो न्यायालय की व्यवस्था को ठीक प्रकार से समझते भी नहीं उन्हें प्रपंची वकीलों और उनके एजेंटों के बाग-जाल में फँस कर छटी की भी याद आजाती है।

इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि वर्तमान् समय में अधिकांश न्यायाधीश (जज, मजिस्ट्रेट, तहसीलदार इत्यादि) स्थापित स्वार्थों (Vested Interests) के ही होते हैं। इसलिए जब एक उद्योगपति और मजदूर अथवा जमींदार और किसान के बीच कोई विवाद होता है और उसका निर्णय करने का प्रश्न उनके सामने उपस्थित होता है, तो मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारणों से उनकी दिलचस्पी उस समुदाय के व्यक्ति की ओर होती है, जिसमें उनका पालन-पोषण हुआ है। इस प्रकार न्याय दूषित हो जाता है और प्रायः गरीब जातियों के साथ अन्याय ही होता है।

देश की गरीब, शोषित तथा पीड़ित जातियाँ सामाजिक अन्याय (Social Injustice) से दुःखी हैं। इस पर भी राज्य के न्यायालयों में उन्हें विशुद्ध न्याय नहीं मिलता।

अतः हमारे समाज में न्याय-भावना की अत्यन्त आवश्यकता है। वैसे जब कभी पति-पत्नी, पिता-पुत्र, आचार्य-गुरु व शिष्य, भाई-भाई में किसी प्रश्न पर विवाद छिड़ जाता है, तो न्याय की दुहाई दी जाती है और कहा जाता है कि न्याय के लिए बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाएं की जाती हैं।

आपको स्मरण रखना चाहिए कि महाभारत-युद्ध का मुख्य कारण कौरवों द्वारा पाण्डवों के साथ किया गया अन्याय ही था। पाण्डव अपने निवास के लिए भूमि चाहते थे। किन्तु दुर्योधन ने पाण्डवों को एक सुई की नौक के बराबर भी भूमि देने से इन्कार कर दिया। राम-रावण युद्ध का कारण भी अन्याय था, घोर अपमान। रावण ने राम की पत्नी सीता का अपमान किसी कारण के हरण किया। संसार में इससे भारी अन्याय और क्या हो सकता है ?

इस प्रकार हमारे धर्म-शास्त्रों में भी यह आज्ञा है कि अन्याय के विरुद्ध मनुष्य को सदैव प्रतिरोध करना चाहिए। अन्याय का सहन महापाप है।

प्रत्येक नागरिक को सदैव दूसरे के साथ न्याय का व्यवहार करना चाहिए और किसी के साथ कभी अन्याय होते भी सहन नहीं करना चाहिए। अन्याय से केवल उसी व्यक्ति की हानि नहीं होती जिसने अन्याय किया है या जिसके साथ अन्याय किया गया है, वरन् समूचे समाज का भी नैतिक पतन होता है क्योंकि इससे समाज की न्याय-भावना को ठेस लगती है। स्वाधीन भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह

जिस किसी भी स्थिति, पद व स्थान पर हो, उसे सदैव प्रत्येक के साथ न्याय करना चाहिए । अपनी स्थिति से कभी अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए । यदि कोई—

मिल-मालिक अपने मजदूरों के साथ अन्याय करता है, म्युनिस्पल बोर्ड अपने कर्मचारियों के साथ अन्याय करता है, जमींदार अपने किसानों को अन्याय से उनकी भूमि तथा घर से बेदखल करता है, अथवा बिना पूरी मजदूरी दिए उनसे काम लेता है,

यदि कोई सचल व्यक्ति किसी दुर्बल व्यक्ति को डराधमका कर उससे सम्पत्ति ले लेता है ।

यदि कोई सदाचारी, विद्वान और सुयोग्य का अपमान करता है;

यदि कोई नारी का तिरस्कार करता है ।

यदि कोई किसी बालक की दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाकर उसे सताता है;

यदि बहुमत अन्याय-पूर्वक अल्पमत का दमन करता है ।

यदि स्वतंत्र, न्याय और निर्भय की आवाज़ को कोई दुष्ट किसी प्रकार का षडयंत्र रचकर दबाता है;

तब क्या ऐसी स्थिति में आपका यह कर्तव्य नहीं है कि ऐसे अन्याय के विरुद्ध आप अपनी आवाज़ ऊँची करें ?

बाइबिल में यह ठीक ही कहा है—

“पितृ-हीन तथा गरीब की रक्षा करो, जो दुःखी तथा पात्र हैं, उनके साथ न्याय करो ।”

अध्याय २१

राष्ट्र और राष्ट्रीयता

आज के युग में राष्ट्रों (Nations) का सबसे अधिक महत्व है और विश्व में राष्ट्रीयता एक महान शक्ति है। किन्तु राष्ट्र और राष्ट्रीयता को ठीक ठीक रूप में समझने की आवश्यकता है। कुछ व्यक्ति राष्ट्र (Nation) और राज्य (State) को एक ही वस्तु समझते हैं और कुछ लोग अज्ञान-वश राष्ट्र और जाति (Race) तथा जातीयता (Nationality) को एक ही चीज समझते हैं। इन सबके भेद को ठीक ठीक रूप में जान लेना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा आपको राष्ट्रीयता (Nationalism) का सच्चा स्वरूप विदित नहीं हो सकेगा। राष्ट्र शब्द से तात्पर्य राजनीतिक समुदाय से है और राज्य से तात्पर्य प्रभुत्वसत्ता से है जिसके प्रति प्रजा अपनी राजभक्ति का परिचय देती है और जो उस प्रदेश पर राज-शासन करता है, जिसमें राष्ट्र के सदस्य निवास करते हैं।

राष्ट्र के अन्तर्गत मूलतत्त्व निम्न प्रकार हैं:—

- (१) राष्ट्र से तात्पर्य ऐसे मानव समुदाय से है जिसका कोई निश्चित प्रदेश हो।
- (२) राष्ट्र के समस्त सदस्यों में एक सीमा तक घनिष्ठता हो।
- (३) उन सदस्यों में सामान्य भाषा, संस्कृति, परम्परा आदि

की प्रतिष्ठा हो, जिससे उन्हें दूसरे राष्ट्रों से भिन्न समझा जा सके।

(४) कुछ ऐसे सामान्य हित हों जिनका सब सदस्यों से सम्बन्ध हो।

वर्तमान समय में संसार में 'राष्ट्रीय राज्य' (Nation States) हैं, प्रत्येक राष्ट्र का अपना राज्य है

अब हमें जाति (Race) तथा राष्ट्रीयता पर विचार करना है। जाति का संबंध रक्त या वंश से है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि संसार में कोई भी जाति आज पवित्र नहीं है। सभी जातियों में रक्त का परस्पर आदान प्रदान हुआ है।

जातीय श्रेष्ठता (Superiority of Race) के कारण भी संसार में बड़ा शोषण, अन्याय और अशान्ति का ताण्डव हुआ है। नात्सी जर्मनी का डिक्टेटर हिटलर जर्मन जाति को श्रेष्ठ आर्य-जाति मानता था। उसका यह विचार था कि जर्मन जाति विशुद्ध आर्य जाति है, शेष सब जातियाँ वर्णसंकर हैं। वह इस आधार पर यह मानता था कि आर्य जाति संसार में शासन करने के लिए पैदा हुई है और संसार की संकर जातियों पर उसे शासन करना चाहिए।

पाश्चात्य देशों में गोरी जातियों का मनोविज्ञान इसी प्रकार का था। वे यह मानती थीं कि संसार में गोरी जातियाँ कृष्ण व पीत जातियों पर शासन करने के लिए ईश्वर ने उत्पन्न की हैं। इसी प्रकार की विचार-धारा का फल हमें आज दक्षिणी अफ्रीका में डा० मलान (दक्षिणी अफ्रीकन यूनियन के प्रधान मंत्री) की वर्णभेद की घातक तथा मानवता-विरोधी नीति में स्पष्ट देख पड़ता है। आज अफ्रीका में भारतीय प्रवासियों के साथ केवल

रंग भेद के कारण पशुवत् व्यवहार किया जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की परिपद ने सन् १९४७ में एक प्रस्ताव स्वीकार कर अफ्रीका को यह आदेश दिया था कि वह भारतीयों के साथ सद्व्यवहार करे और संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations) के चार्टर के अनुसार व्यवहार करे। किन्तु डा० मलान ने इस विश्व-संस्था के आदर्श को भी ठुकरा दिया।

जातीयता (Nationality) की आज तक कोई उपयुक्त परिभाषा नहीं की जा सकी। प्रत्येक विद्वान ने अपने ही ढंग से इसकी व्याख्या की है। नात्सी कल्पना के अनुसार जातीयता में वंश-तत्त्व का प्राधान्य होता है अर्थात् एक ही जाति के सदस्यों से ही जातीयता का प्रादुर्भाव होता है। अंग्रेजों के अनुसार जातीयता के निर्माण में इतिहास, भाषा और संस्कृति के बंधन काम करते हैं। अमेरिका में व्यक्तियों के स्वतंत्र समुदाय जो न एक जाति के हैं और न जिनकी एक भाषा है, यदि एक शासन के अन्तर्गत रहने को तत्पर हैं, तो उनमें जातीयता मानी जायगी।*

व्यापक रूप में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जातीयता एक प्रकार का आध्यात्मिक भाव है जिससे दो भिन्न राष्ट्रों की भिन्नता प्रकट होती है। जब जनता सदियों से एक ही देश में रहती हुई सामान्य इतिहास, परम्परा, संस्कृति द्वारा प्रभावित होती है तथा जय-पराजय की भावना का सामान्य रूप से पोषण करती है, तब हम उसे जातीयता कहते हैं। जातीयता के तत्त्व निम्नलिखित माने गए हैं:—(१) एक निश्चित प्रदेश पर जनता का निवास (२) जातीय एकता

*Biman Bihari Majumdar : Political Science and Government P. 49, 50.

(३) भाषा की एकता (४) धर्म की एकता (५) एक सामान्य सत्ता की आधीनता (६) सामान्य आर्थिक हित (७) सामान्य परम्परा ।

यद्यपि जातीयता के ये प्रमुख तत्व माने गए हैं, तथापि यह आवश्यक नहीं कि जातीयता के लिए इनमें से अत्यन्त तत्व की आवश्यकता है । गत वर्ष यहूदियों के नव राज्य इजराइल का जन्म फिलीस्तीन के विभाजन से हुआ है । किन्तु इससे पूर्व इनका कोई भी देश नहीं था, परन्तु फिर भी यहूदी जातीयता मानी जाती थी । जातीयता के लिए एक जाति का होना भी आवश्यक नहीं है; सोवियट रूस में ही आप देखिये, वहाँ १५-२० जातियाँ (Races) हैं और अनेक धर्मों के अनुयायी हैं । इसी प्रकार भाषा की एकता भी आवश्यक नहीं है । सोवियत संघ के राज्यों में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं । फिर भी वहाँ जातीयता है ।

एक राज्य के अन्तर्गत अनेक जातीयतायें हो सकती हैं । उनमें सामान्य हितों, समस्त जातीयताओं के लिये समान सुयोग, तथा सामान्य शासन द्वारा सामान्य राष्ट्र-भावना का जागरण हो सकता है । संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका, सोवियत संघ आदि देशों में जातीयता की भावना का जैसा विकास हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि किसी राज्य में विभिन्न जातीयताओं के अस्तित्व के कारण ही आत्म-निर्णय के अधिकार का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर बर्साई में जब शान्ति-संधि सन् १९१६-२० में हुई, तब 'राष्ट्रों के लिए "आत्म-निर्णय" (Self-determination) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया । इसके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के लिये स्वाधीनता का अधिकार

स्वीकार किया गया। एक ही जातीयता के सभी सदस्यों को एक सामान्य शासन के अधीन रहना चाहिए। इस प्रकार पोलैण्ड तथा जेकोस्लोवाकिया आदि नवीन राज्यों की स्थापना की गई।

इस सिद्धान्त का आधार लेकर भारत में भी श्री मुहम्मद अली जिन्ना ने 'दो राष्ट्र का सिद्धान्त' रखा और कहा कि भारत में हिन्दू तथा मुसलिम जातियाँ नहीं हैं, बरन राष्ट्र हैं और आत्म-निर्णय या स्वभाग्य निर्णय के अनुसार मुसलमानों के लिए स्वतन्त्र राज्य होना चाहिए। इस प्रकार सन् १९४७ में पाकिस्तान नामक स्वाधीन राज्य की स्थापना की गई। किन्तु इसके बाद भी भारतीय संघ के अधीन ४१ करोड़ मुसलमान रहते हैं। तब क्या भारत में रहने वाले मुसलमान भी प्रथक राष्ट्र के रूप में हैं? इस प्रश्न के सम्बन्ध में भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने स्थिति स्पष्ट कर दी है। भारत में रहने वाले मुसलमान भारतीय राष्ट्र के अङ्ग हैं; वे अल्पमत अवश्य हैं; किन्तु प्रथक राष्ट्र नहीं है।

राष्ट्रीयता (Nationalism) संसार में सबसे महान् शक्ति है। संसार में जितने भी युद्ध हुए हैं, वे सब राष्ट्रीयता के नाम पर हुए हैं। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप में राष्ट्रीयता एक महान् शक्ति है; उसके समुचित विकास से संसार में अन्तराष्ट्रीयता की स्थापना हो सकती है। किन्तु वास्तव में राष्ट्रीयता को अपनाकर संसार में राष्ट्रों के साथ मानवता का व्यवहार नहीं करते। जिस प्रकार एक देश के अन्तर्गत परिवार होते हैं और वे एक दूसरे साथ मानवता का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रों को विश्व परिवार मानना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रों को एक दूसरे के साथ न्याय, मित्रता और सहयोग का व्यवहार करना चाहिए।

१५ अगस्त १९४७ के बाद भारत देश का विभाजन हो गया और पाकिस्तान तथा भारतीय संघ नामक दो स्वतन्त्रता-पूर्ण सत्ताधारी (Sovereign) राज्यों की स्थापना हो गई। भारत ने अपना ध्येय स्वाधीन गणतंत्र राज्य (Republican State) की स्थापना घोषित कर दिया है और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल ने इसे स्वीकार करते हुए भी उसे राष्ट्रमण्डल का सदस्य मान लिया है। भारत के नये विधान के अनुसार गवर्नर-जनरल का पद नहीं रहेगा। उनके स्थान पर नागरिकों द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। भारत का ब्रिटेन के ताज (Crown) से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।

इस प्रकार भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र है। वह आन्तरिक तथा वैदेशिक मामलों में पूर्ण स्वाधीन है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत में अनेक आश्चर्यप्रद किन्तु राष्ट्र-हितकारी प्रवृत्तियाँ एवं घटनायें देखी गई हैं, इनसे भारत में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता को पोषण मिलेगा।

प्रथम घटना है, देश में सँ साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का अन्त। ब्रिटिश शासन के आधीन हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, भारतीय ईसाई, आदि जातियों के धारासभाओं के निर्वाचन प्रथक निर्वाचन मण्डलों द्वारा होते हैं। अब इनके लिये कोई भी स्थान न तो धारासभाओं में और न सरकारी नौकरियों में सुरक्षित रहेंगे। केवल परिगणित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रहेंगे।

दूसरी महत्व-पूर्ण घटना है, भारत की ६०० से ऊपर देशी रियासतों का विलोनी-करण। इस प्रकार छोटी रियासतें प्रान्तों में मिल गई हैं, इनमें अनेक बड़ी और प्रगतिशील रियासतें भी हैं, जैसे बड़ौदा रियासत बंबई प्रान्त में मिल गई है। कुछेक

रियासतें केन्द्रीय सरकार के प्रबंध में हैं, जैसे हिमाचल प्रदेश, भोपाल तथा रामपुर। तीसरे बड़ी रियासतों ने परस्पर मिल कर संघ कायम कर लिए हैं—

जैसे मध्य भारत-संघ (इसमें ग्वालियर, इन्दौर, रतलाम आदि हैं); राजस्थान-संघ (इसमें जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा आदि हैं); सौराष्ट्र राज्य संघ (इसमें गुजरात व काठियावाड़ की समस्त रियासतें हैं); त्रावनकोर-कोचीन-राज्य-संघ (केरल संघ), विंध्य-प्रदेश आदि ।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने की नीति का जो प्रयोग किया गया है, वह प्रशंसनीय है और इसका पूरा श्रेय राज्य-विभाग के मंत्री माननीय सरदार वल्लभ भाई पटेल को है ।

इसके अतिरिक्त भारतीय नेताओं, भारत-सरकार तथा राष्ट्रीय कांग्रेस ने यह भी निश्चय किया है कि भारतीय शासन पूर्णतः सेक्यूलर शासन (Secular Government) होगा । वह किसी धर्म विशेष का संरक्षण नहीं करेगा अर्थात् राज्य का कोई निजी धर्म नहीं होगा । प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के साथ समानता का व्यवहार किया जायगा । देश का शासन-विधान भी हिन्दू धर्म-शास्त्रों के आधार पर नहीं होगा, जैसा कि पाकिस्तान में विधान इस्लाम के सिद्धांतों के आधार पर तैयार किया जा रहा है ।

इस प्रकार देश में विशुद्ध राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हो सकेगा ।

अध्याय २२

स्वराज्य और मुराज

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सन् १९१६ से स्वाधीनता की प्राप्ति-पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रही थी। द्वितीय महायुद्ध में सभी साम्राज्यवादी यूरोपीय राष्ट्रों की शक्ति नष्ट हो गई, यद्यपि अन्त में संयुक्त राष्ट्रों की विजय हुई। ब्रिटेन संसार में सबसे बड़ा साम्राज्यवादी देश था। उसका साम्राज्य समस्त संसार में था। कहा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य में कहीं भी सूर्य अस्त नहीं होता था। किन्तु द्वितीय युद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य अस्त हो गया। शक्तिहीन ब्रिटेन विजयी होकर भी पराजित हो गया; यूरोप में उसका स्थान सोवियत रूस ने ले लिया और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अमेरिका सर्वेसर्वा बन गया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से विवश होकर ब्रिटेन की नयी मजदूर-सरकार ने भारत, बर्मा, और लंका को कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों जैसा स्वराज्य दे दिया। भारत में दो उपनिवेश भारतीय संघ और पाकिस्तान बनाये गए। फिलीस्तीन में ब्रिटिश सत्ता का आधिपत्य राष्ट्रसंघ के शासना-देश (Mandate) के अधीन था। किन्तु वहाँ की परिस्थिति पर नियंत्रण करना ब्रिटेन की नयी सरकार के लिए कठिन हो गया। इसलिए वहाँ से भी मई १९४८ में अपनी सत्ता हटा ली !

१५ अगस्त १९४७ को भारत को स्वराज्य मिल गया। किन्तु यह केवल राजनीतिक स्वराज्य था। भारतीय प्रदेश से

अंग्रेजों की राजनैतिक सत्ता का अन्त हो गया। अब भारत में सर्वोच्च राज्याधिकारी गवर्नर जनरल से लेकर जिलाधीश तक सब भारतीय हैं न केवल नागरिक शासन (Civil administration) में, बल्कि सैनिक व्यवस्था (Military) में भी भारतीय सैनिक तथा अफसर हैं। भारत के रक्षा-मंत्री माननीय सरदार वलदेवसिंह हैं और भारत के प्रधान सेना-नायक लेफ्टीनेंट जनरल करिअप्पा हैं। अभी नौसेना (Navy) तथा नभ-सेना (Air force) में अंग्रेज अफसर हैं, जो टेक्नीकल परामर्श देने के लिए हैं।

हमारे राष्ट्रपिता गांधी जी को इस स्वराज्य से सन्तोष नहीं हुआ था। इसलिए वह इसे अपूर्ण स्वराज्य कहा करते थे। भारत के विभाजन से भी उनके हृदय को दुःख पहुँचा था। वह भारत में राजनीतिक स्वराज्य के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक स्वराज्य की भी स्थापना करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने कांग्रेसजनों को यह सलाह दी कि वे कांग्रेस को भंग कर भारतीय जनता के लिए आर्थिक तथा सामाजिक स्वराज्य या स्वाधीनता की स्थापना के लिए लोक-सेवक-संघ की स्थापना करें। देश का दुर्भाग्य कि राष्ट्रपिता बापू की ३० जनवरी १९४८ को नाथूराम गोडसे नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण युवक द्वारा हत्या कर दी गई।

गांधी जी ने राज्य का आदर्श 'रामराज्य' द्वारा प्रकट किया गया था। गांधी जी ने स्वराज्य के संबंध में अपने आदर्श की व्याख्या इस प्रकार की है—

“मेरी कल्पना का स्वराज्य किसी प्रकार के जाति या धार्मिक भेद भावों को स्वीकार नहीं करता और न वह शिक्षित व्यक्तियों का ही एकाधिकार होगा और न पूँजीपतियों का ही।

स्वराज्य जनता का है, जिसमें केवल किसान ही सम्मिलित नहीं हैं, वरन् अंगहीन, अंधे और भारत की भूखी गरीब जनता भी सम्मिलित है ।”*

“यह कहा जाता है कि भारतीय स्वराज्य बहुमत समुदाय का अर्थान् हिन्दुओं का शासन होगा । इससे बड़ी कोई भूल नहीं हो सकती । यदि ऐसा ही हुआ, तो मैं इसे स्वराज्य नहीं कहूँगा और मैं इसका अपनी पूरी शक्ति से विरोध करूँगा क्यों कि मेरे लिए हिन्द स्वराज्य का प्रयोजन है सब जनता का राज ।”*

“मेरी कल्पना का स्वराज्य गरीब आदमी का स्वराज्य है । जीवन की आवश्यक वस्तुओं का उपयोग आप लोग राजाओं तथा पूंजीपतियों के साथ साथ करें । किन्तु यह आवश्यक नहीं कि आपके भी राजाओं के जैसे राज-भवन हों । वे आनन्द के लिए आवश्यक नहीं हैं । आप और हम उनमें ही लिप्त हो जायेंगे । किन्तु आपको जीवन के सभी साधारण सुख-साधन धनी पुरुषों की भांति मिलने चाहिए ।”*

गांधी जी ने अपने मन्तव्य को और भी स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है:—

“मेरी स्वराज्य की कल्पना के संबंध में कोई भ्रान्ति न हो । उसमें विदेशी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता है और पूर्ण आर्थिक स्वाधीनता भी । इस प्रकार एक ओर आपको राजनीतिक स्वाधीनता होगी और दूसरी ओर आर्थिक स्वाधीनता । इसके दो और पहलू हैं । एक नैतिक और दूसरा सामाजिक ।

* M K. Gandhi : India of My Dreams (Compiled by R.K. Parabhu)

कांग्रेस की भाषा में हम राजनीतिक तथा आर्थिक स्वाधीनता बिना सत्य और अहिंसा के प्राप्त नहीं कर सकते, स्पष्ट शब्दों में ईश्वर में श्रद्धा होनी चाहिए, अतः नैतिक और सामाजिक उत्थान ।”*

“स्वराज्य नीचे से अरम्भ होता चाहिए । हर एक गाँव में पंचायत का राज्य होगा । उसे पूरी सत्ता प्राप्त होगी । इसका आशय यह है कि हरेक ग्राम को अपने पैरों पर खड़ा होना होगा—अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी करनी होंगी । यहां तक कि वह सारी दुनियाँ के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सके ।…………… ऐसा समाज अनगिनती गाँवों का होगा । उनकी रचना एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं होगी, बल्कि लहरों की भांति एक के बाद एक के रूप में होगी । जीवन मीनार के रूप में नहीं होगा, जहाँ ऊपर की तंग चोटी को नीचे चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है । वहां तो समुद्र की लहरों की तरह एक के बाद घेरे की शकल में होगा और व्यक्ति इनका केन्द्र होगा । यह व्यक्ति सदैव अपने ग्राम के लिए मर मिटने को तैयार होगा । इस तरह आखिर समूचा समाज ऐसे लोगों का बन जायगा, जो अभिमानी होकर कभी किसी पर आक्रमण नहीं करते अपितु हमेशा विनय-शील रहते हैं और अपने में सागर के उस गौरव का अनुभव करते हैं, जिसके वे आवश्यक अंग हैं ।”†

गांधी जी के इन आदर्शों को हमारे देश की कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया है और वह सामाजिक तथा आर्थिक स्वाधीनता की प्राप्ति को अपना ध्येय मानती है । हमारे प्रधानमंत्री माननीय

*M. K. Gandhi : India of My Dreams. p. 11. (Hind Kitabs Bombay).

† बिहार कांग्रेस, अगस्त १९४८ पृ० ३

पंडित जवाहर लाल नेहरू, माननीय सरदार वल्लभ भाई पटेल तथा माननीय डा० राजेन्द्रप्रसाद ने अनेक बार यह कहा है कि जो स्वराज्य हमें मिला है, वह पूर्ण स्वराज्य नहीं है। पूर्ण स्वराज्य तो गांधी जी के रामराज्य की स्थापना से ही संभव होगा।

हमने स्वराज्य तो प्राप्त करलिया, किन्तु हमने—हमारी जनता ने, हमारे अनेक नेताओं ने—स्वराज्य के मर्म को नहीं समझा। इसलिए आज देश में अशान्ति और असन्तोष व्याप्त है। स्वराज्य का अर्थ यह कदापि नहीं है कि देश में सभी व्यक्ति स्वेच्छाचारी हो जाएं और राज्य में कोई नियम, कोई व्यवस्था कोई न्याय और कोई श्रेष्ठ शासन न रहे। तब तो स्वराज्य और अराजकता (anarchy) में कोई भी अन्तर नहीं रह जायगा।

जनता में इस मनोवृत्ति—स्वच्छन्दता की मनोवृत्ति की अभिवृद्धि का प्रभाव यह हुआ है कि देश में अराजकता की प्रवृत्तियों को पोषण मिल रहा है, देश में अपराधों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है, चोरी, डकैतियां, हत्याकांड, लूटमार और नारी-व्यापार आदि बढ़ रहे हैं। प्रत्येक प्रान्त की सरकार की पुलिस में पहले से कई गुनी वृद्धि हो गई है, प्रान्तों में सार्वजनिक शान्ति-रक्षा कानून (जो अब आर्डिनेंस के रूप में प्रचलित हैं, क्यों कि हाई-कोर्टों द्वारा वे अवैध घोषित हो चुके हैं) तथा गुण्डा-कानून भी प्रचलित हैं, फिर भी देश में अपराध बढ़ते जा रहे हैं।*

*संयुक्त प्रान्त के गृह-मंत्री माननीय श्री लालबहादुर शास्त्री ने यू० पी० असेम्बली में एक प्रश्न के उत्तर में कहा कि गत तीन वर्ष में यू० पी० में गुण्डों की संख्या दूनी हो गई। सन् १९४५ में ७६४२ गुंडे थे, ३१ मार्च

देश में चोर-वाजारी, मुनाफा खोरी, बेइमानी तथा भ्रष्टाचार की वृद्धि होती जा रही है, जितना ही प्रयत्न इनके दमन के लिए हो रहा है, उतनी ही इनमें वृद्धि होती जा रही है। भ्रष्टाचार केवल साधारण जनता में ही नहीं धनिक वर्गों में सबसे अधिक है और सरकारी अफसरों तथा कर्मचारियों में तो अब यह और भी बढ़ गया है।

इस प्रकार भारत को विदेशी शासन से मुक्ति मिल जाने पर भी देश में सुशासन की स्थापना नहीं हुई है।

इस समय देश में सुशासन (Good Government) अथवा सुराज की बड़ी आवश्यकता है। और सुशासन की स्थापना उसी समय संभव है, जबकि देश के सभी प्रान्तों तथा रियासतों व रियासती संघों में श्रेष्ठ, चरित्रवान् और विद्वान व्यक्तियों के मंत्री-मंडल स्थापित किए जाय। जबतक हमारी सरकारों के मंत्री-गण विमल चरित्र-वाले नहीं होंगे, तब तक वे अपने आधीन अधिकारियों तथा कर्मचारियों को सदाचारी नहीं बना सकते और न वे उनके आदेशानुसार अपने आचरण को शुद्ध बना सकते हैं।

१९४६ को १३५८२ गुण्डे ही गये। इस वृद्धि के तीन कारण बतलाए, (१) गत युद्ध के बाद लोगों के पास बिना लायसेंस के हथियार। (२) पंजाब के विभाजन के परिणाम स्वरूप उपद्रव। (३) विविध समुदायों व वर्गों में अनुत्तरदायित्व की यह तरंग कि स्वच्छंदता ही स्वतंत्रता है।

अध्याय २३

संयुक्त-राष्ट्र

संसार में युद्ध सदैव होते आये हैं, हमारे देश में सतयुग में राम-रावण युद्ध जिसका वर्णन वाल्मीकि रामायण और तुलसीदास के रामचरित मानस में मिलता है; आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व देहली के समीप कुरुक्षेत्र की भूमि में महाभारत का संग्राम हुआ था। किन्तु प्राचीन समय में धर्म-युद्ध होते थे। धर्म-युद्ध से तात्पर्य यह है कि राजा धर्म-विजय के लिए युद्ध करते थे। युद्धों में राजा और उनकी सेनाएँ ही—युद्ध-क्षेत्र में लड़ते थे। प्रजा अपने दैनिक कृत्यों में उसी प्रकार लगी रहती थी जिस प्रकार शान्ति काल में, कृषक खेती करके धान्य उत्पादन करने में लगे रहते थे, व्यापारी व्यापार-वाणिज्य करने में और शेष जनता भी गृह तथा ग्रामोद्योगों में लगी रहती थी। युद्ध के समय दोनों पक्षों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था जैसे—

- (१) युद्ध दिन में होना चाहिए और रात्रि में शान्ति रहनी चाहिए।
- (२) युद्ध-समय में संग्राम में कोई अनुचित या अधर्म नहीं किया जाय, अर्थात् छल-कपट से किसी पर प्रहार नहीं किया जाय।
- (३) प्रत्येक योद्धा को अपनी ही श्रेणी के योद्धा से लड़ना चाहिए, घुड़-सवार, घुड़ सवार से, हाथी पर सवार

सैनिक हाथी पर सवार सैनिक से और रथ पर सवार सैनिक रथ पर सवार सैनिक से युद्ध करे ।

(४) जो सैनिक अपने दल से बिलुप्त हुआ हो, उस पर अकेले में प्रहार नहीं किया जाय ।

(५) रथी, सेवक तथा युद्ध-वाद्य का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों पर आक्रमण नहीं किया जाय ।

कालान्तर में इन धर्म-युद्धों के स्थान पर युद्ध देश विजय और राज्य के गौरव के लिए लड़े जाने लगे । संसार के सारे इतिहास में हमें केवल अशोक ही एक ऐसा सम्राट मिलता है, जिसने कलिंग-विजय के पश्चात् युद्ध द्वारा देश-विजय का परित्याग कर दिया और संसार में प्रेम-विजय तथा अहिंसा द्वारा अपने साम्राज्य का विस्तार किया । कलिंग की विजय से अशोक को महान् हार्दिक दुःख हुआ, जिसके कारण उन्होंने युद्ध का परित्याग कर दिया । संसार में ऐसा महान् त्याग किसी भी देश के इतिहास में नहीं मिलेगा ।

आधुनिक समय में तो युद्ध साम्राज्य-विस्तार के लिए होने लगे । यूरोप के देश जो ज्ञान-विज्ञान तथा उद्योग धंधों में बड़ी उन्नति कर गए थे अब एशिया, अफ्रीका, अमेरिका के देशों में जाकर अपने साम्राज्य बनाने लगे । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक संसार के प्रत्येक भाग का इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने बटवारा कर लिया था । इस प्रतियोगिता में जर्मनी और रूस ये दो ही ऐसे महान् देश थे, जिनके पास कोई उपनिवेश नहीं थे ।

अतः प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१८) का सूत्रपात जर्मनी द्वारा उपनिवेशों की प्राप्ति के लिए हुआ । इस युद्ध से

यूरोप के देशों का विनाश हो गया। जर्मनी की पराजय हुई। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति का जन्म हुआ और साम्यवादी शासन की प्रतिष्ठा हुई। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन के आग्रह से संसार के विजयी राष्ट्रों ने मिलकर 'राष्ट्रसंघ' (League of Nations) की स्थापना सन् १९२१ में की, जिसका प्रधान कार्यालय स्विट्जरलैण्ड के सुन्दर नगर जिनेवा में था।

किन्तु राष्ट्रसंघ को अपने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-स्थापना के कार्य में तनिक भी सफलता नहीं मिली। इसका कारण था यूरोप के महान राष्ट्रों की स्वार्थ-परता तथा साम्राज्यवादी शोषण नीति। राष्ट्रसंघ की विफलता के कारण यूरोप में जर्मनी में नात्सी शक्ति और इटली में फासिज्म का उदय हुआ और जापान में उग्र सैनिकवाद का।

इस प्रकार पुनः यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ सितम्बर १९३९ में पोलैंड पर जर्मनी के आक्रमण के साथ हुआ। यह युद्ध पहले युद्ध की अपेक्षा अत्यन्त विश्व-व्यापी था, इसके प्रभाव से कोई भी देश, यहाँ तक कि तटस्थ देश भी नहीं बच सके। यह अत्यन्त भयङ्कर, घातक और सभ्यता का विनाशक था। हिटलर, मुसोलिनी और तोजो संसार पर अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे।

१ जनवरी १९४२ को नात्सी सत्ता के विरुद्ध लड़ने वाले राष्ट्रों ने—संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, उत्तरी आयरलैंड, सोवियत संघ, चीन, आस्ट्रेलिया, बेलजियम, कनाडा, भारत आदि देशों ने राष्ट्रपति रूजवैल्ट तथा ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री चर्चिल द्वारा घोषित अटलाण्टिक-घोषणा-पत्र को स्वीकार करते हुए यह घोषणा की कि प्रत्येक सरकार अपनी पूरी शक्ति धुरी

राष्ट्रों की सरकारों के विरुद्ध लगायेगी; प्रत्येक सरकार एक दूसरी से सहयोग करेगी और शत्रु के साथ अलग संधि नहीं करेगी। इस घोषणा को संयुक्त राष्ट्रों (United Nations) की घोषणा प्रसिद्ध किया गया और प्रत्येक मित्र राष्ट्र को संयुक्त राष्ट्र।

इस प्रकार युद्ध-काल में संयुक्त राष्ट्र बराबर जापान की पराजय तक मिलकर लड़ते रहे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म

१ नवम्बर १९४३ को मास्को सम्मेलन में चार महान् राष्ट्रों (अमेरिका, ब्रिटन, रूस व चीन) के प्रमुखों ने यह घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सङ्घ स्थापित किया जायगा। १ दिसम्बर १९४३ का तेहरान में भी इन चार राष्ट्रों के नेताओं ने यह घोषणा की कि हम जिस प्रकार सहयोग से युद्ध में कार्य करते रहे हैं, वैसे ही शान्ति-निर्माण के लिये भी करेंगे। ७ अक्टूबर १९४४ को डम्बरटन ओक्स में संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ के विधान-चाटर्—की रूपरेखा तैयार की गई। इस पर २५ अप्रैल १९४५ को सेन फ्रांसिसिको के संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में विचार किया गया और नौ सप्ताह तक विचार करने के बाद २६ जून १९४५ को विधान राष्ट्रों द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

इस प्रकार विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना, परस्पर राष्ट्रों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानववादी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसङ्घ (United Nations Organization) की स्थापना की गई। इसका प्रधान कार्यालय संयुक्त राज्य

अमेरिका के न्यूयार्क नगर में है। जिस समय सङ्घ की स्थापना हुई थी, उस समय ५१ राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की। उसके बाद भी ८-१० राष्ट्र इसके सदस्य बन गए हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य संस्थाएँ हैं—

(१) साधारण-परिषद (General Assembly)—इस में समस्त सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि हैं। इसका एक अधिवेशन प्रति वर्ष अक्टूबर मास में न्यूयार्क में होता है। आवश्यकतानुसार अन्य स्थान पर भी हो सकता है। यह परिषद समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करती है जिन्हें सदस्य प्रस्तावों द्वारा उसके समक्ष रखते हैं।

(२) सुरक्षा समिति (Security Council)—इस समिति में पांच सदस्य स्थायी हैं—ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, फ्रांस और चीन तथा ६ राष्ट्र अस्थायी हैं, जिनका दो वर्ष के लिए चुनाव होता है।

सुरक्षा-समिति के अधिवेशन प्रायः प्रतिमास होते रहते हैं। यह समिति आक्रमण के रोकने और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को कायम रखने के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है।

(३) आर्थिक व सामाजिक समिति (Economic and Social Council)—यह समिति संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण परिषद तथा उसके द्वारा स्थापित या उससे सम्बद्ध अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा मानव अधिकारों सम्बन्धी समस्याओं पर परामर्श देती है। इस समिति में १८ सदस्य हैं, जो साधारण परिषद द्वारा तीन वर्ष के लिए चुने जाते हैं।

(४) संरक्षण-समिति (Trusteeship Council)—इस समिति में महान् राष्ट्रों का एक-एक प्रतिनिधि होता है। इनके अतिरिक्त संरक्षण के आधीन देशों का प्रबन्ध करने वाले देशों के प्रतिनिधियों के समान ही दूसरे अधिकारियों की संख्या है।

इस समिति का काय संरक्षित देशों (Trust Territories) की अवस्था की जांच कर परिषद् को उचित परामर्श देना है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय (International Court of Justice) इसमें संयुक्त राष्ट्र की साधारण-परिषद् व सुरक्षा-समिति द्वारा १५ न्यायाधीश चुने जाते हैं। इस न्यायालय का कार्य राज्यों के पारस्परिक विवादों का निर्णय करना है। संयुक्त राष्ट्र-संघ के चार्टर के आधीन समस्त विषयों पर न्यायालय की अधिकार-सीमा है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अपना भी एक विधान है, जिसके अनुसार न्यायाधीशों के चुनाव, अधिकार तथा कार्य-प्रणाली का निश्चय किया गया है। इस विधान को स्वीकार करने वाले राष्ट्र यह घोषित कर सकते हैं कि वे निम्न निम्नलिखित मामलों में न्यायालय की अधिकार-सीमा को अनिवार्य मानते हैं:—

(क) संधि-पत्र की व्याख्या।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय विधान का कोई भी प्रश्न।

(ग) किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व या प्रतिज्ञा का उलंघन।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के उलंघन पर क्षतिपूर्ति की सीमा।

(६) संयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्यालय—यह कार्यालय एक प्रधान-मन्त्री के आधीन कार्य करता है, जिसकी नियुक्ति सुरक्षा-समिति की सिफारिश पर साधारण-परिषद् द्वारा की जाती है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ के सदस्य

१. पांच महान राष्ट्र

- १ चीन, १, २, ३, ४, ५, ७, ९, १०, ११
- २ फ्रान्स, १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११
- ३ सोवियट यूनियन १, २, ३, ४, ५, १०
- ४ ब्रिटेन, १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११
- ५ संयुक्त राज्य अमेरिका, १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११

२. अन्य योरोपीय राष्ट्र

- ६ बेलजियम, ३, ४, ५, ६, ८, ९, १०, ११
- ७ बायलो रूस,
- ८ जेकोस्लोवाकिया ३, ६, ९
- ९ डेनमार्क ८
- १० हौलैण्ड १, ४, ६, ७, ८, ९, ११
- ११ लक्समबर्ग ६, ८
- १२ नार्वे ४, ५, ६, ८, ९, १०, ११
- १३ पोलैण्ड १, ५, ६, १०, ११
- १४ यूक्रेन, ३
- १५ यूगोस्लाविया ३, ६, १०, ११

३. अन्य एशियायी राष्ट्र

- १६ भारत ३, ७, ११
- १७ ईराक ५, ९

१८ लेबनान, ३

१९ फारस

२० फिलीपाईंस, ७

२१ सऊदी अरब

२२ सीरिया

२३ टर्की, ८, ९

४. अफ्रीका के राष्ट्र

२४ मिश्र, १, २, १०

२५ इथियोपिया

२६ साइबेरिया

२७ दक्षिणी अफ्रीका यूनियन, ६, ५

५. अन्य अमरीकी राष्ट्र

२८ अर्जेन्टाइना

२९ बोलिविया

३० ब्राजील, १, ५, ६, ९, १०, ११

३१ कनाडा, २, ३, ५, ६, ९, १०, ११

३२ चिली, ३, ९, १०, ११

३३ कोलम्बिया, ३, ९

३४ कोस्टारिका

३५ क्यूबा, ३, ९

३६ डोमीनिकन रिपब्लिक

३७ ईक्वाडोर

३८ इल सालवाडोर, ९, ११

३९ गुएटेमाला

४० हेटी

- ४१ हौन्ड्रास
 ४२ मैक्सिको, १. ५. ९. १०. ११
 ४३ निकारागुआ
 ४४ पनामा
 ४५ पेरागुआ
 ४६ पेरू, ३. ९. ११
 ४७ यूरुग्वे
 ४८ वेनेजुअला

६. आस्ट्रेलिया आदि

- ४९ आस्ट्रेलिया १. ४. ७. ९
 ५० न्यूजीलैण्ड ४. ५. ७

विश्व शान्ति स्थापित करने वाली मुख्य संस्था संयुक्त-राष्ट्र संघ की स्थापना के समय उसके उपरोक्त ५० सदस्य मौलिक सदस्य थे। उसके पश्चात् बर्मा, पाकिस्तान, स्याम, लंका, इज-

- १ सुरक्षा-समिति के सदस्य।
- २ अणु-शक्ति कमीशन के सदस्य।
- ३ सामाजिक आर्थिक समिति के सदस्य।
- ४ संरक्षण-समिति के सदस्य।
- ५ खाद्य तथा कृषि समिति के सदस्य।
- ६ यू० एन० एन० आर. ए. की यूरोपीय समिति के सदस्य।
- ७ यू० एन० एन० आर. ए. की सुदूर-पूर्वी समितिके सदस्य।
- ८ सदस्य योरोपियन कोयला एसोसियेशन।
- ९ सदस्य नागरिक-नभ यातायात समिति।
- १० अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश।
- ११ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की कार्य-कारिणी के सदस्य।

राइल (यहूदी राज्य), अफगानिस्तान, यमेन, मंगोलिया तथा ट्रान्सजार्डन ने भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता स्वीकार करली है ।

संयुक्त राष्ट्र-संघ से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ

इनके अतिरिक्त कुछ स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी हैं, जिनका समझौते द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध है । उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

- १ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ (International Labour Organization)
- २ खाद्य तथा कृषि संघ (Food and Agricultural Organization)
- ३ संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति संघ (U. N. E. S. C. O.)
- ४ अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक नभ-यातायात संघ (International Civil Aviation Organization)
- ५ पुनर्निर्माण व विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ।
- ६ अन्तर्राष्ट्रीय कोष-निधि (International Monetary Fund)
- ७ विश्व स्वास्थ्य संघ (W. H. O.)
- ८ विश्व डाक संघ (Universal Postal Union)
- ९ अन्तर्राष्ट्रीय तार-सम्पर्क संघ ।
- १० अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संघ ।
- ११ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संघ ।

१२ विश्व मेटरोलोजीकल (जलवायु सम्बन्धी) संघ ।

भारत प्रायः इन सभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का सदस्य है । उनकी ओर से प्रतिनिधि-मण्डल इनके अधिवेशनों में सम्मिलित होते रहते हैं । भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामाजिक-आर्थिक समिति का सदस्य है । सुरक्षा-समिति के लिए चुनाव में उसके प्रतिनिधि कई बार खड़े हुए किन्तु चुने नहीं जा सके । अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की कार्य-कारिणी का भारत सदस्य है । संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति संघ की कार्यकारिणी-समिति के अध्यक्ष हमारे देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक-प्रवर डा० सर्व पल्ली राधाकृष्णन हैं । आपको इसी मास में (जुलाई १९४६) सोवियत रूस में भारतीय राजदूत नियुक्त किया गया है ।

संयुक्त राष्ट्र-संघ का भविष्य

संयुक्त राष्ट्र-संघ संसार के राष्ट्रों का एक संघ मात्र है । उसे किसी अर्थ में विश्व-राज्य (World State) नहीं कहा जा सकता । संघ राष्ट्रों के प्रभुत्व को स्वीकार करते हुए अपना कार्य करना चाहता है । इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध राजनैतिक लेखक जी० डी० एच० कोल का यह विचार है कि “संयुक्त राष्ट्र-संघ उस समय तक शान्ति रक्षा में सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आर्थिक सहकारिता के लिये कोई प्रभावकारी एजेंसी स्थापित नहीं करेगा । किन्तु राजनीतिज्ञ इस प्रकार का कोई चिन्तन नहीं कर रहे हैं । किन्तु दूसरी ओर अणु शक्ति के आविर्भाव के कारण उनका ध्यान इस समय संघ को युद्ध-अवरोधक संस्था के रूप में परिणित करने की ओर है ।” आगे सुलेखक कोल यह लिखते हैं कि—

“संयुक्त राष्ट्र संघ उन लोगों की दृष्टि से एक साधारण-सी चीज हो सकती है और है भी जो वास्तव में संसार में सहयोग

चाहते हैं। किन्तु न-कुछ से कुछ का होना ठीक है; क्यों कि उसके द्वारा राष्ट्रों को लड़ने से पूर्व अपने विवादों के संबंध में यहां बात चीत करने का अवसर मिलता है।”*

इस समय संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत दो प्रमुख गुट हैं; एक अमेरिकन-अंग्रेजी गुट और दूसरा सोवियत रूसी गुट। पहला गुट बड़ा शक्तिशाली है, उसमें अमेरिका, ब्रिटेन तथा पश्चिमी यूरोप व अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और एशिया के देश चीन, ईरान, ईराक, लेबनान बर्मा तथा लंका और पाकिस्तान आदि हैं। दूसरे गुट का नेता सोवियत रूस है; उसके साथ बायलो रूस, जेकोस्लोवाकिया, यूक्रेन, यूगोस्लाविया हैं।

भारत की नीति इस संबंध में इन दोनों की गुटबन्दी से अलग रहने की है। वह इनकी गुटबन्दी से अलग रहते हुए संयुक्त राष्ट्र के आदर्श की रक्षा करना चाहता है और इन सब देशों के साथ मित्रता भी रखना चाहता है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस प्रकार गुटबन्दी से प्रथक रहकर भारत एशिया का नेतृत्व सफलता पूर्वक कर सकेगा और इन दोनों गुटों में मेल-मिलाप कराने का कार्य भी भली भांति कर सकेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य-प्रणाली में अनेक दोष हैं और जहां मजबूत राष्ट्र का प्रश्न आ खड़ा होता है, वहां वह दुर्बलता का ही परिचय देता है। दक्षिणी अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न, तथा हिन्देशिया की स्वतन्त्रता का प्रश्न आपके समक्ष है। संघ ने दक्षिणी अफ्रीका के साथ क्या किया ? वह बार-बार उसके आदेश की अवज्ञा करता जा रहा है।

*G. D. H. Cole : Guide to Post-war world (1948) p. 1616.

जो कुछ भी हो, समस्त राष्ट्रों को विशेषतः बड़े राष्ट्रों को चाहिये कि वे सद्भावना के साथ राष्ट्र-संघ में कार्य करें और सदैव प्रत्येक के साथ न्याय से काम करें, तभी संघ अपनी नीति व उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकेगा। प्रत्येक राष्ट्र और उसके नागरिकों का यह कर्तव्य है कि दूसरे राष्ट्र के साथ मानवता तथा न्याय का व्यवहार करें।



अध्याय २४

मानवता

“मैं भारतवर्ष को इसलिए स्वतंत्र और शक्तिशाली देखना चाहता हूँ कि संसार के कल्याण के लिए वह पवित्रता के साथ स्वेच्छापूर्वक अपना बलिदान करने के लिए तैयार रहे। व्यक्ति पवित्रता-पूर्वक परिवार के लिए अपने को बलिदान करता है, परिवार ग्राम के लिए, ग्राम जिले के लिए, जिला प्रान्त के लिए, प्रान्त राष्ट्र के लिए और राष्ट्र समस्त मानवता के लिए।”

—महात्मा गांधी

मानव स्वाभाविक रूप से सामाजिक है; वह अपने हर्ष विषाद; दुःख; सुख; शान्ति और युद्ध में भी अपने बंधुओं के साथ सहयोग से काम करना चाहता है। विश्व की ऐतिहासिक प्रगति पर दृष्टि-पात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव आरम्भ से शनैः शनैः विश्व-बधुत्व अथवा मानवता की ओर अग्रसर होता रहा है। ससार में जितने भी नवीन आविष्कार एवं अन्वेषण हुए हैं, उनके कारण उसे इस ओर अग्रसर होने में सहायता मिली है।

वास्तव में विचार-पूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि विश्व के राष्ट्रों के समस्त मानव एक समान हैं। उनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है, जो उनकी एकता व सहयोग में बाधक हो; क्या धिचार जगत में, क्या धार्मिक जगत में, क्या समाज-नीति में, क्या अर्थ-नीति में, क्या सदाचार में जीवन

के प्रत्येक क्षेत्र में आपको कुछ ऐसे आधारभूत मौलिक नियम व सिद्धान्त मिलेंगे, जिनसे मानवता की एकता प्रकट होती है। विभिन्न राष्ट्रों के व्यक्तियों में जो अन्तर हैं, वह दैशिक वातावरण तथा अपनी ऐतिहासिक व सांस्कृतिक परम्परा के कारण हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि संसार के सभी देशों की जनता शान्ति और सुख चाहती है; एक राष्ट्र की जनता दूसरे राष्ट्र की जनता से सहयोग चाहती है।

किन्तु देशों की सरकारें, जिनमें अधिकांश पूंजी-पति व उद्योगपति होते हैं अथवा वे उनके प्रभाव में होती हैं, संसार में अशान्ति व युद्ध चाहते हैं, जिससे वे अधिकाधिक पूंजी पैदा कर सकें और मालामाल हो सकें।

मानवता की ओर प्रगति

आरम्भ से आज तक मानवता की ओर प्रगति कई अवस्थाओं में से हुई है। इन सब अवस्थाओं पर यहाँ सूक्ष्म दृष्टि से प्रकाश डालना उचित होगा।

१ समूह—

समाज प्रारम्भिक अवस्था में, जब मानव-असभ्य दशा में था, तब वन-प्रदेश में कुछ नरनारी इकट्ठे होकर अपने भोजन के लिए खोज करते थे और वे वन्य-पशुओं से अपनी रक्षा भी मिलकर करते थे।

२ परिवार :

मानव में सम्पत्ति की भावना के साथ परिवार की उत्पत्ति हुई। माता की रक्षा करना पिता ने अपना कर्तव्य समझा और बालक के भविष्य के लिए भी उसने अपना दायित्व

समझा। प्रसूता और बालक की रक्षा के लिए गृह बनाना उचित समझा गया; बालकों के दूध के लिए गाय, भैंस आदि का पालन किया गया; अब वह अपने मुख के लिए कम और सन्तान की सुख-कामना के लिए अधिक चिन्तित होने लगे।

३ वंश—

कई परिवारों में, जिनमें परस्पर रक्त का सम्बन्ध था, मिल कर रहने की प्रवृत्ति पैदा हुई; वे अपने सामान्य हितों की अभिवृद्धि के लिए परस्पर मिल कर उद्योग व्यवसाय करने लगे और इस प्रकार परिवार की परिधि में और भी वृद्धि हो गई।

४—ग्राम

जब एक दो वंश मिल कर एक ग्राम में बस कर रहने लगे, तो उनमें भी धनिष्ठता उत्पन्न हो गई। इस प्रकार एक ग्राम के निवासियों में एक प्रकार का बन्धुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार ग्राम में बस जाने पर उनके जीवन में स्थिरता आ गई। अब ग्राम में खेती, पशुपालन तथा अन्य ग्रामोद्योगों का विकास होने लगा। एक ग्राम के लोग, जब अपनी आवश्यकताएँ पूरी न कर सके, तब उन्हें दूसरे ग्रामों से अपना संबंध स्थापित करना पड़ा। अपनी सन्तान के विवाह के लिये उन्हें योग्य पात्र के चुनाव के लिये दूसरे ग्राम में जाना पड़ा। इस प्रकार ग्रामों में परस्पर संबंध स्थापित हो गया।

५—नगर

जब ग्रामों में उद्योग-धन्धों का अधिक विकास हुआ, और वहाँ कल-कारखाने, बिजलीघर, पुतलीघर, स्कूल, कालेज, पुस्तकालय, बाजार, सरकारी कार्यालय, पुलिस-थाने, आदि

बनने लगे, तो ग्रामों ने ही नगरों का रूप धारण कर लिया। आपने बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, बलनर, मद्रास आदि के नाम सुने हैं। ये आज भारत के बड़े-बड़े नगर हैं। इस समय कलकत्ता की जनसंख्या ६० लाख बतलाई जाती है; बम्बई की जनसंख्या ४० लाख और दिल्ली की २० लाख। किन्तु आरम्भ में जब ये नगर बसाए गए थे, तब छोटे से ग्राम थे। इनकी वृद्धि और विकास तो व्यापार, उद्योग तथा वणिज्य के कारण ही हुआ है।

जब नगर में अधिक आवादी बढ़ जाती है, तो आसानी के साथ सब नागरिकों में घनिष्ठता का सम्बन्ध नहीं रहता। वंश तथा परिवार अधिक संख्या में हो जाते हैं और एक ही नगर में विभिन्न प्रदेशों के लोग व्यापार व व्यवसाय के लिये रहने लगते हैं; तब उनमें नागरिकता का भाव पैदा हो जाता है। वे अपने को एक ही नगर का निवासी अनुभव करते हैं और एक प्रकार की नागरिक भावना पैदा हो जाती है।

६—राष्ट्र

ये सब ग्राम और नगर एक ही सामान्य शासन तथा सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था के आधीन रहने के कारण एक जानीयता के बन्धन में ग्रन्थित हो जाते हैं। जब जानीयता एक राजनीतिक समाज का रूप धारण कर लेती है, तब वही राष्ट्र कहलाता है। हमारा भारत एक राष्ट्र है। राष्ट्रीयता के कारण राष्ट्र के सब व्यक्तियों के हित सामान्य हो जाते हैं। यदि किसी ग्राम में दुष्काल पड़ जाता है; किसी नगर में जल की अधिक वृष्टि से बाढ़ आ जाती है, तो समूचे राष्ट्र की आत्मा को दुःख पहुँचता है। सन् १६४३ में कलकत्ता में भयंकर दुष्काल हुआ जिसमें कई लाख नर-नारी तथा बालक भूखों मर गए ! किन्तु उनकी सहायता के लिये समूचे भारत देश ने सहायता का हाथ

बढ़ाया। तुरन्त ही पंजाब से गेहूँ-चावलों की गाड़ियां भर कर जाने लगीं। यदि किसी वर्ष किसी प्रान्त में अन्न की फसल अच्छी नहीं होती, तो समूचे राष्ट्र को दुःख और चिन्ता होती है। इस प्रकार आज राष्ट्र एक परिवार जैसा बन गया है।

७—मानवता

मानव केवल राष्ट्र की परिधि में ही सीमित नहीं रहना चाहता। वह आज अन्य राष्ट्रों के नागरिकों से अपना राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सहयोग स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। द्वितीय युद्ध के कारण यूरोप के देशों की आर्थिक अवस्था बड़ी शोचनीय बन गई थी। अमेरिका ने यह अनुभव किया कि उसकी समृद्धि संसार के देशों की समृद्धि पर निर्भर है। इसलिये उसने मार्शल-योजना (यूरोपीय पुनरुद्धार की योजना) सन् १९४८ में जारी करके पश्चिमी यूरोप के १६ देशों को आर्थिक सहायता देना आरम्भ किया।

द्वितीय युद्ध के परिणाम स्वरूप यूरोप के देशों के बालकों की अवस्था बड़ी करुणाजनक हो गई। हजारों नहीं लाखों बालक अनाथ और बेघर-बार हो गए।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में १९४६ में संयुक्त राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय बाल-कोष स्थापित किया गया। संसार की सरकारों एवं दानी सज्जनों ने इस कोष में दान दिया। १ जून १९४८ तक इस कोष में ६०, ०००, ००० डालर अर्थात् १८ करोड़ रुपये जमा हो गए। इस धन से बालकों को भोजन तथा दूध दिया जाता है। इस कोष से १६ यूरोपीय देशों व चीन में ४,०००,००० बालकों, तथा गर्भवती महिलाओं को सहायता दी जा रही है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संघ, तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति संघ समस्त राष्ट्रों की जनता के स्वास्थ्य, मजदूरों की दशा में सुधार तथा सांस्कृतिक विकास के लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

अणु-शक्ति और मानवता

जब गत १९४५ में जापान के दो टापुओं पर अमेरिकन वायुयानों ने दो अणु-बम (Atomic Bombs) डाल दिए, तो उनके कारण जापान को विवश होकर संयुक्त राष्ट्रों से संधि करनी पड़ी। जापान ने तुरन्त ही समर्पण कर दिया। क्यों कि ये अणुबम इतने भयानक थे कि उनके कारण प्रायः दो लाख व्यक्ति मारे गए।

अणुबम का निर्माण अमेरिका में हुआ। इसका रहस्य अमेरिका ने कनाडा और इंग्लैण्ड को बता दिया। किन्तु रूस को उसके रहस्य से वंचित रखा गया। कहा जाता है कि अमेरिका ने अबतक २०० अणु-बम बना लिए हैं। यह भी कहा जाता है कि रूस ने भी अणुबम बनाये हैं।

जो कुछ भी हो, समस्त राष्ट्रों को चाहिए कि वे परस्पर मिलकर इन अणुबमों को नष्ट कर डालें और भविष्य में इनके निर्माण पर प्रतिबंध लगा दिया जाय। तभी मानवता युद्ध के खतरे से बची रह सकेगी।

हरप्रसाद भार्गव
एज्यूकेशनल पब्लिशर
आगरा

पुस्तक विक्रेता—

भार्गव बुक हाउस,
राजा मन्डी, आगरा